श्री देशभूषण स्याद्वाद ग्रन्थमाला ग्रन्थ:

रत्नाकर शतक

रत्नाकराधीश्वर शतक

द्वितीय भाग

अनुवादक और सम्पादक :—
स्वस्ति श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज

सहायक सम्पादक –
ज्योतिषाचार्य प० नेमिचन्द्र शास्त्री,
न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, आरा।

स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर आरा

वी० स० २४७६।
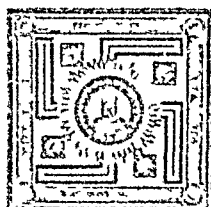
श्री देशभूषण स्याद्वाद ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क २

प्रकाशक—श्री स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर, आरा।

प्रथमा वृत्ति

मूल्य ३॥)

द्वितीय आषाढ वि० सं० २००७

श्री सरस्वती प्रिंटिंग वर्क्स लि०, आरा।
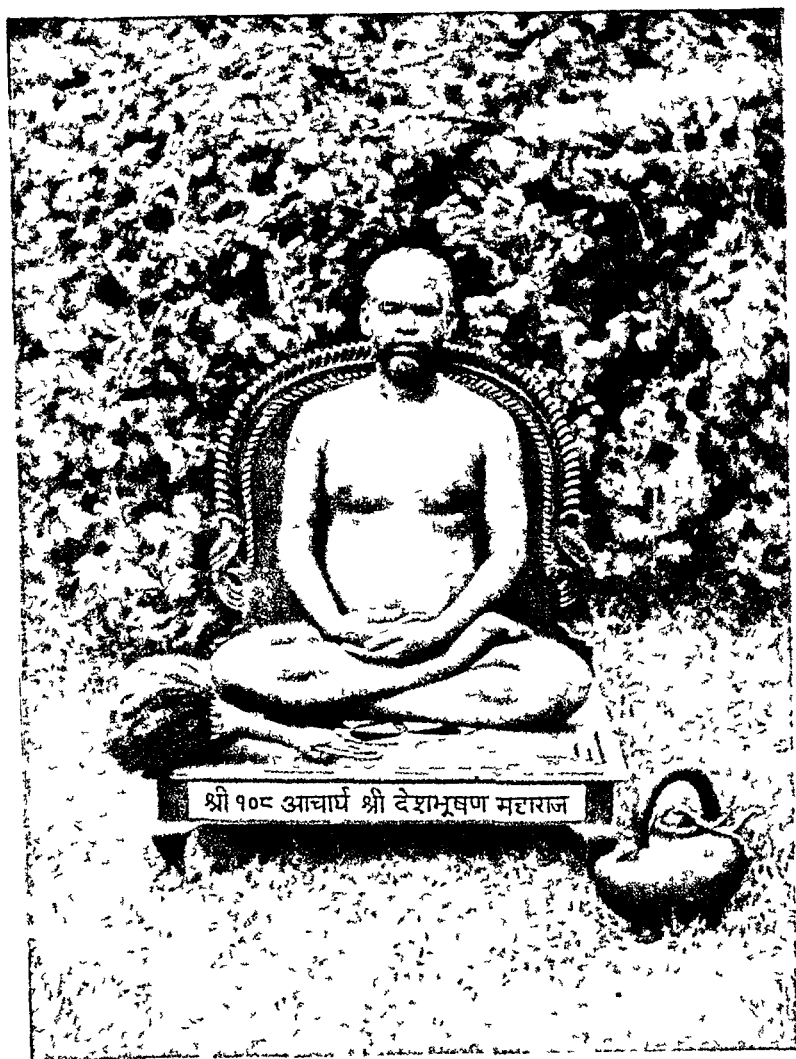
स्वस्ति श्री १०८ विद्यालङ्कार आचार्य देशभूषण महाराज

प्रस्तावना

"धम्मो वत्थु सुभावो" वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप है, अतः अपने मूल स्वभाव मे स्थित रहना आत्मा का धर्म है। आत्मा जब मूल स्वभाव से च्युत होती है, उसी समय वह अधर्म की ओर जाती है। तथा जब तक उसकी स्वाभाविक प्रवृति होती रहती है, धर्म मे स्थित रहती है। कवि-रत्नाकर वर्णी ने आत्मा के मूल स्वभाव और उसकी विकृत पर्यायो का प्रस्तुत ग्रन्थ मे सुन्दर वर्णन किया है। कवि ने बताया है कि अहर्निश प्रत्येक व्यक्ति आत्मतत्त्व की आस्था से रहित होकर परपदाथो को अपना समझकर पुद्गल से अनुराग कर रहा है, जिससे अपने निजी रूप को भूले हुए है। निश्चय से आत्मा मे न कोई रूप है, न रस है, न गन्ध है और न किसी प्रकार का स्पर्श ही। इसकी कोई जाति भी नहीं है और न यह स्त्रीलिंग या पुल्लिंग है। यह तो इन सब भेदो से परे है। इसका मूल स्वभाव इन सब विकल्पो से रहित है। ससार के समस्त पदाथो मे यही प्रेय है, इसके शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि हो जाने पर आवागमन मिट जाता है।

ससार के जितने भेद है— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, विद्वान् और मूर्ख, ज्ञानी और अज्ञानी, स्त्री और पुरुष, रूपवान् और कुरूप ये सभी आत्मा के स्वभाव से भिन्न है। आत्मा की विकृत पर्याये इनको कहा जा सकता है। जब तक किसी भी व्यक्ति की दृष्टि उक्त भेद प्रभेदो की ओर रहती है, तब तक वह आत्म-तत्त्व के मूलस्वरूप को प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है। इन विकृत अवस्थाओ के त्याग किये बिना व्यक्ति अपना आत्मोत्थान नही कर सकता है।

प्रवचनसार में भी आत्मतत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस आत्मा का स्वभाव ज्ञान, आनन्दमय है, पर के आधीन नहीं है। जैसे सूर्य का स्वभाव प्रकाशमान् है, वह मेघपटलों के ढक जाने से हीन प्रकाश हो जाता है, परन्तु मेघपटल के दूर हो जाने पर स्वाभाविक प्रकाश प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार इस आत्मा के भी इन्द्रिय आवरण करनेवाले कर्मों के दूर हो जाने से स्वाभाविक ज्ञान तथा सुख प्रकट हो जाते हैं। आत्मा जब तक इन्द्रियों के आधीन है, तब तक शारीरिक सुख, दु ख का अनुभव होता है, इन्द्रियों की पराधीनता के छूटते ही शारीरिक सुख-दु ख छूट जाते हैं। इस प्रकार निश्चय आत्म-धर्म का पालन करते ही भेद-भाव जन्य सभी पर्यायें जीव की दूर हो जाती हैं तथा आत्मा कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर होती है। कवि रत्नाकरवर्णी ने आत्मतत्व की प्राप्ति के लिये अपने इस सपाद शतक में भगवान् जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए प्रेय आत्मा की उपलब्धि के अनेक साधनों का वर्णन किया है। शुद्ध आत्मा की दृढ प्रतीति कराने के लिये मिथ्यात्व को छोडने एव रत्नत्रय को धारण करने के लिये जोर दिया है चौरासी लाख योनियो मे अनादिकाल से भ्रमण करते हुए यह मनुष्य गति और उत्तम श्रावक कुल बडे सौभाग्य से प्राप्त हुए हैं। इन्हे प्राप्त कर आत्म-शुद्धि मे अपने पुरुषार्थ को लगाना चाहिये।

ससार के पदार्थ जो मोह, और क्षोभ के कारण अपने प्रतीत होते हैं, इनका आत्मा से किञ्चित्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य सब आत्मा से भिन्न हैं। केवल मोह के कारण ही जीव इनको अपना समझता है। यह शरीर भी जीव का अपना नहीं है और न

इसके साथ जीव का कुछ भी सम्बन्ध है। कर्मो के आवरण के कारण यह मिला है तथा आवरण दूर होते ही यह भी छूट जाता है।

कवि रत्नाकर वर्णी ने ५१ वे पद्य में आत्मा की विशुद्धावस्था क निरूपण करते हुए कहा है कि इस आत्मा मे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, क्रोध, मान, माया, लोभ, भोग, रोग आदि विकार जन्य पर्यायें नही हैं। ये पर्यायें उपाधि से उत्पन्न हुई हैं, कर्मो की उपाधि दूर होने पर आत्मा शुद्ध निकल आती है। ५२ वे पद्य मे बताया है कि सासारिक कार्यो का कर्मयोगी बन कर करते हुए भी उनमें लीन नहीं होना चाहिये। यद्यपि ससार के मोहक प्रलोभन व्यक्ति को अपनी ओर खीचते हैं, पर कर्मयोगी को इनके फदे से सदा अलग रहना होता है। जैसे कमल जल मे रहता हुआ भी जल से भिन्न रहता है, उसी प्रकार ससार के समस्त कार्यों को करते हुए भी इनसे पृथक् रहना चाहिये। आसक्ति जीव को महान् कष्ट देती है, फलाकाक्षा तथा परपदार्थों मे मोहबुद्धि करना सदा हानिकर है। ५३ वे पद्य मे बताया गया है कि जैसे डोरी के सहारे पतग आकाश मे चढ जाती है, इसी प्रकार विषयो के आधीन होकर मन भी स्वानुभूति या सिद्ध भगवान की भक्ति से हट जाता है। वायु जिस प्रकार पतग को ऊँचा चढा देती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म इस जीव को भक्ति से हटा देता है। मन के स्थिर हुए विना विषयो से विरक्ति कभी नहीं हो सकती अतः मन को ध्यान द्वारा एकाग्र कर आत्मचिन्तन मे लीन होना चाहिये। इन्द्रिय और मन की आधीनता इस जीव को दुःख देनेवाली है।

५४ वें पद्य में बताया गया है कि प्रारम्भिक साधक को प्रभु-भक्ति की ओर झुकना चाहिये। भक्ति में परम सुख, शान्ति, ज्ञान और आनन्द वर्तमान है। प्रभु-भक्ति स्वात्मानुभूति को जाग्रत करने का एक साधन है इससे आन्तरिक शान्ति, ज्ञान, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, तप आदि की प्राप्ति होती है। ५५ वें पद्य में कंचन और कामिनी के त्यागने का उपदेश दिया है। बताया गया है कि संसार में समस्त कलहों की जड़ ये दोनों ही वस्तुएँ हैं, इनके लिये न मालूम कितने निरपराधियों की जानें गयीं कितने मासूम बच्चों का कत्ल किया गया और न मालूम कितनी ललनाओं की अस्मत लूटी गयी। जो व्यक्ति इन दोनों पदार्थों के प्रलोभन का त्याग कर सकता है वही संसार में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। ५६ वें और ५७ वें पद्य में विषय-भोगों की निस्सारता का निरूपण किया गया है तथा बताया गया है कि जब तक इन्द्रियों में शक्ति रहती है, मनुष्य विवेक हीन होकर विषयों का सेवन करता है। वह अपनी आत्मा के स्वरूप को बिल्कुल भूले रहता है तथा विषयाधीन कुत्ते के समान इन्द्रियों का दास बना रहता है। जो व्यक्ति अपना कल्याण चाहता है, आत्मोत्थान के लिये प्रयत्न करना चाहता है, उसे इन्द्रियों की प्रवृत्ति का नियन्त्रण अवश्य करना चाहिये। मनुष्य बचपन में अज्ञानी रहने के कारण अपने आत्मोत्थान से वञ्चित रहता है, युवावस्था में विषयों के आधीन हो जाने के कारण अपने को भूला रहता है। अहंकार और ममकार इसे अपने स्वरूप को समझने नहीं देते हैं। वृद्धावस्था में कभी कभी त्याग और वैराग्य की बातें करता है, पर असमर्थ रहने के कारण कुछ भी नहीं कर पाता है।

५८ वे पद्य मे बताया गया है कि विषय-भोगो मे रञ्चमात्र भी सुख नहीं है, वास्तविक सुख सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे ही है। विषयभोगो की सारहीनता का प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य अनुभव कर सकता है। ५६ वे पद्य मे बताया गया है कि वास्तविक आनन्द अपनी-आत्मा के भीतर ही है, अन्य पदार्थो मे यह जीव आनन्द ढूढने का प्रयत्न करता है, पर इसे अन्यत्र आनन्द की प्राप्ति नही होती है, शुद्धोपयोग स्वसवेदन ज्ञान मे लीन व्यक्ति परद्रव्यों के साथ अपना सम्बन्ध छोड देते है। अन्दर के विकार रागादि भावकर्म और बाहर के शरीरादि ना कर्म ये सब परपदार्थ है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु का आत्मभाव के सिवा सब परद्रव्यो का सम्बन्ध छोड देना चाहिये। साधक को जब आत्मानन्द की अनुभूति हो जाती है, तो विषयानन्द से उसका मन हट जाता है। उसे ऐन्द्रियिक सुख हेय प्रतीत होने लगते है।

६० वे पद्य मे विषय-लालसा को वश करने के लिये प्रशम, यम, समाधि, ध्यान, भेदविज्ञान आदि का निरूपण किया है। ६१ वे पद्य मे बताया गया है कि चारित्र मोह के प्रबल उदय मे विषय-भोग कामशमन का हेतु होता है, पर वस्तुतः इससे शान्ति नहीं मिलती। ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है तथा इसके विकास को आत्मा का विकास माना गया है। मै मनुष्य हूँ, यह मेरा शरीर है, इस प्रकार नाना अहकार और ममकार भावो से युक्त अविचलित चेतना विलासरूप आत्मव्यवहार से च्युत होकर समस्त निन्द्य क्रिया समूह के अगीकार करने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। जो व्यक्ति राग-द्वेष रूप भावो को त्यागने का प्रयत्न करता है, वह ब्रह्मचर्य को प्राप्त होता है। ६२ वे पद्य मे बताया

गया है कि संसारी जीव अज्ञान से आच्छादित हैं, इसलिये परकीय पदार्थों में मोहित हैं। शुद्ध आत्मज्ञान से रहित हैं, इस कारण परम तृप्ति कारक अतीन्द्रिय सुख से वंचित हैं। मोह के कारण यह जीव अनात्मरत रहता है, आत्मिक भावों और क्रियाओं से पराङ्मुख हो जाता है। यद्यपि यह जीव बार-बार कामभोगों को धिक्कारता है, निन्दा करता है, पर प्रबल उदय आने पर अपने समस्त पुरुषार्थ को छोड़ बैठता है और विषयों की ओर बलात् खिंच जाता है। विषयवासना का विष कालकूट से भी भयङ्कर है, क्योंकि कालकूट विष के भक्षण से एक बार ही मृत्यु होती है, पर विषय विष से अनेकानेक जन्म धारण करने पड़ते हैं।

६३ वें पद्य से ६७ वें पद्य तक ऐन्द्रियिक विषयों के छीछालेदर का वर्णन करते हुए ब्रह्मचर्य की महत्ता का दिग्दर्शन कराया है। ब्रह्मचर्य के समान शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्ति का बढ़ानेवाली कोई दूसरी वस्तु नहीं है। जीवात्मा ने यथार्थ धर्म को न जानकर क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय के प्रादुर्भाव से स्त्री संभोग में अपने को लिप्त कर रखा है, किन्तु कर्मों के आवरण के दूर होते ही यह आत्मधर्म में संलग्न हो जाता है। कर्म के उदय के बल से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव आत्मा के स्वभाव नहीं है, आत्मा प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है। इस प्रकार समस्त कर्म जन्य भावों को पर समझना तथा अपने को ज्ञाता द्रष्टा जानना सामान्य रूप से आत्मा की प्रतीति करना है।

६८ वें पद्य में धर्म कथाओं के कहने सुनने पर जोर दिया है। विकथाओं की चर्चा करने से जीव अपने को राग-द्वेष से युक्त करता है

तथा अपने मन को सदा अपवित्र बनाता रहता है। पुण्य पुरुषो के चरित्र का मनन, चिन्तन और अध्ययन करने से प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है। ६९ वे पद्य मे बताया गया है कि जो कवि या लेखक अपनी रचनाओ मे पुण्य पुरुषो के चरित्रो को स्थान देता है, वह लोक मे प्रसिद्धि तो प्राप्त करता ही है, साथ ही अपना आत्मिक उत्थान भी कर लेता है।

७० वे और ७१ वे पद्य मे आचार एव विचार की शुद्धि पर विशेष जोर दिया है। इन दोनो का तादात्म्य सम्बन्ध बताया है। आचार की शुद्धता से विचारो मे शुद्धता आती है और विचारो की शुद्धता से आचार मे। जो व्यक्ति इन दोनों का सम्बन्ध नही समझते है, वे गलत मार्ग पर है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पापो से आत्मा के परिणामो का घात होता है। जिन व्यक्तियो ने केवल आमोद-प्रमोद को अपने जीवन का ध्येय मान रखा है, उनके ये विचार भिन्न कोटि के है। विषय-कषायो की आधीनता कभी भी हितकर नही हो सकती है। अतएव जिन व्यक्तियो के विचार शुद्ध है, जिनके विचारो मे किसी भी प्रकार की कलुषता नहीं है, जिनकी प्रवृत्ति राग-द्वेष से परे रहती है वे अपने आचरण को उन्नत बना लेते है। वास्तविक बात यह है कि स्वार्थ की सकुचित सीमा टूट जाने पर परपदार्थो से मोह बुद्धि दूर हो जाती है।

७२ वे, ७३ वे और ७४ वे पद्यो मे बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव के लिये आत्मविश्वास के समान कोई उपकारी नही है। जिसे अपनी

आत्मा की शक्ति का दृढ विश्वास नहीं, वह कोई भी कार्य सफलता पूर्वक नहीं कर सकता है। आत्मविश्वास आत्मनिर्मलता के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता और आत्मा निर्मल बनती है बाधक कषाय परिणामों के दूर होने पर, कषाय परिणति के रहने पर आत्मा मे निर्मलता नहीं आने पाती है। इस आत्मा का अस्तित्व स्वसवेदन प्रत्यक्ष, अनुमान और तर्क द्वारा सिद्ध है। सकल्प, इच्छाशक्ति, काम-क्रोध आदि की भावनाएँ चैतन्य आत्म-शक्ति के बिना उत्पन्न नहीं हो सकतीं। ये भावनाएँ शरीर की नहीं हो सकती हैं, क्योंकि मृत शरीर मे इनका अभाव देखा जाता है। मैं या अह की अनुभूति द्वारा भी आत्मा की सिद्ध हो जाती है। अत. समस्त पदार्थों की ज्ञाता, द्रष्टा आत्मा है और सब पदार्थों से भिन्न है।

७५ वें से लेकर ८० वें पद्य तक सासारिक वैभव की सारहीनता एव भोग-विलासो की प्राप्ति के लिये उत्तरोत्तर बढनेवाली लालसाओं का निरूपण किया गया है। जितनी विभूति प्राप्त होती जाती है, लालसाएँ बढती जाती हैं। जब सतोष की प्राप्ति नहीं होती सुख नहीं मिल सकता है। आत्मा की अचिन्त्य एव अद्भुत शक्तियों का विकास इन्द्रिय और मन का निग्रह करने पर ही हो सकता है।

यह जीव मिथ्या अहकार के वशीभूत होकर अपनी महत्वाकाक्षाओं की पूर्ति के लिये नाना प्रकार के कष्ट सहता है। सकीर्ण और सकुचित सीमा के भीतर बंधकर नाना प्रकार से मानसिक अशान्ति प्राप्त करता है। सयम के धारण करने से ही उक्त प्रकार की अशान्ति दूर हो सकती है। यों तो ससार के वैभव पूर्व पुण्योदय से ही प्राप्त होते हैं, किन्तु फिर भी ये वैभव उत्तर काल मे पापबन्ध के साधन बनते हैं।

जो जैसा करता है, उसे वैसा फल भोगना पड़ता है। निन्द्य और अनिष्ट कृत्यों का फल सर्वदा दुःख कारक होता है। राग प्रवृत्ति का त्याग कर व्रताचरण का पालन करना प्रत्येक साधक का कर्त्तव्य है। शक्ति अनुसार व्रतों का पालन करना, इन्द्रियों का निग्रह करना एवं मन, वचन और काय की प्रवृति को शुभ रखना कल्याण का मार्ग है।

८१ वें पद्य मे प्रभुभक्ति की महत्ता तथा इन्द्र, अहमिन्द्र आदि के लिये इसकी प्राप्ति के लिये तरसना और भक्ति मार्ग द्वारा ही अपनी आत्मा को शुद्ध करने की ओर प्रवृत्त करना आदि बातों का वर्णन है।

८२ वे पद्य से लेकर ८५ वे पद्य तक बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति इष्टवियोग, अनिष्ट-सयोग, रोग, दरिद्रता, आलस्य आदि के साथ जन्म-जरा-मरण आदि के कष्टो को उठा रहा है। कर्मरूपी रोग से प्रत्येक त्रस्त है, किसी को एक क्षण के लिये शान्ति नही। कोई धन के लिये रोता है, तो कोई सन्तान के लिये। कोई स्त्री के लिये दुःख से छटपटा रहा है तो कोई स्त्री के कुलटा होने से। कोई मूर्ख होने से दुःखी है तो कोई पढलिख कर आजीविका न मिलने से। अतएव इस संसार के दुःख को आत्मचिन्तन से ही दूर किया जा सकता है। आध्यात्मिक शक्ति ही एक ऐसी प्रबल शक्ति है जिसके प्रयोग मे मनुष्य सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा सकता है।

धन का ऐहिक जीवन के लिये उपयोग है, परन्तु जो इस जीवन में दान-पुण्य आदि कृत्यों मे धन को व्यय नहीं करता है, उसका ऐहिक

जीवन भी सुखी नही हो पाता है। ८८ धन कमाना, अपनी सम्पत्ति को बढाना और श्रेष्ठ उपायो द्वारा अपने ऐश्वर्य को बढाना अनिष्टकर नही। अनिष्टकर है उस सम्पत्ति से राग बुद्धि करना तथा दान, धर्म, पूजा-प्रतिष्ठा आदि कर्मो मे धन को न लगाना।

सासारिक सुख पुण्योदय से प्राप्त होते है, पुण्योदय के बिना किसी भी प्रकार का सुख नहीं मिल सकता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का सर्वदा व्रत, उपवास, दान, पूजा और सयम आदि का पालन करना चाहिये।

८६ वे और ८७ वे पद्य मे बताया गया है कि प्रभावना के कार्यों मे धन व्यय करना नितान्त आवश्यक है। जो व्यक्ति धर्म प्रसार के कार्यो मे धन व्यय न कर केवल अपने ही पोषण मे धन खर्च करते है तथा दिनरात अपने शरीर और इन्द्रियो के पोषण मे सलग्न रहते हैं, वे व्यक्ति बिल्कुल निम्नस्तर के है। उनका जीवन पशुवत् है। मनुष्य जन्म को प्राप्त कर मानव कल्याण के लिये कुछ प्रयत्न नही किया तो, इस श्रेष्ठ जन्म का पाना निरर्थक है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को परोपकार मे अपने जीवन को अवश्य लगाना चाहिये।

८८ वे और ८९ वे पद्य मे बताया गया है कि जीव मे जब अनात्मीय भाव आ जाते हैं, तब वह आत्मस्वरूप को भूल जाता है। विषय-सुख जिनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, यह जीव अपना मानने लगता है। शरीर से मोह करना एव विषय-भोगो की आकाक्षाओ को उत्तरोत्तर बढाना मिथ्यात्व है। इसीके कारण यह जीव इन्द्रिय

जन्य वासनाओं को तथा उन वासनाओं की पूर्ति करनेवाले भौतिक पदार्थों को शान्ति का कारण समझना है, जिससे इसकी भ्रान्ति बढती जाती है। अपने गुणों से इसे मोह नहीं रहता और न उनकी प्राप्ति की आकांक्षा करता है किन्तु अन्य के गुणों को अपना मानता है। अतएव मिथ्यादर्शन का त्याग करना आवश्यक है, इसके त्यागे बिना आत्मा की निजगुणों मे प्रवृत्ति होती नही है।

९० वे पद्य से लेकर ९५ वे पद्य तक बताया गया है कि भगवान के गुणस्तवन द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र किया जा सकता है। यद्यपि भक्ति-राग का अंश है, परन्तु शुभ राग होने से आत्मा को विकास की ओर ही ले जाता है। वैसे तो रागवश ही यह जीव संसारकी यातनाएँ सहता है, जैसे तिलहन आदि पदार्थ स्नेह—तेल रहने के कारण ही पेले जाते है उसी प्रकार यह जीव भी राग-द्वेष के कारण ही संसार की यन्त्रणाएँ उठाता रहता है। राग के कारण ही संसार के पदार्थ प्रिय प्रतीत होते है, तथा यह राग ही संसार में सबसे बड़ा दुःखदायी है। इसके दूर करने से मनुष्य को यथार्थ वस्तु स्वभाव का परिज्ञान हो जाता है।

९६ वे पद्य से लेकर १०० वे पद्य तक दान, पूजा, स्वाध्याय, तप का महात्म्य बताया गया है। उदासीन व्यक्ति, जिन्होंने आरम्भ परिग्रह का त्याग कर दिया है, वे भाव पूजा और जो गृहस्थ हैं, उन्हें द्रव्य पूजा करनी चाहिये। पूजा करने से अन्तरात्मा पवित्र हो जाती है और राग-द्वेष रूप अशुभ प्रवृति भी रुकती है। पूजन का फल और उसकी महत्ता अनिर्वचनीय है। आत्मा का उद्धार तभी हो सकता

है, जब व्यक्ति ससार से विरक्ति प्राप्त करले। पूजा विषय-रस के लिये निरन्तर इधर-उधर भटकनेवाले मन को वश करने का प्रमुख साधन है। कवि ने पूजा के इस प्रकरण मे भगवद्पूजा का बडा सुन्दर विश्लेषण किया है।

१०१ वे पद्य से लेकर १०५ वे पद्य तक बताया गया है कि वीत-रागी प्रभु की पूजा उन्हे प्रसन्न करने के लिये नहीं की जाती है। पूजा करने से पूजक के मन मे स्वत. प्रसन्नता उत्पन्न होती है, जिससे पुण्या-स्रव होने के कारण पूजक की सारी मनोकामनाएँ सफल हो जाती हैं। भक्त किसी फल की आकाक्षा मे भगवान की पूजा नही करता है, बल्कि वह निष्काम हो पूजन मे प्रवृत्त होता है।

१०६ वे पद्य से लेकर ११० वे पद्य तक बताया गया है कि राग-द्वेष, क्रोध, मोह, मान, लोभ आदि अन्तरग परिग्रह तथा धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह त्याज्य है। जब तक दोनो प्रकार के परिग्रह का त्याग नही किया जायगा, आत्मोद्धार सभव नही है। सजग प्राणी आत्मचिन्तन और आत्मालोचना द्वारा अपने मन की विचारधारा को पवित्र कर लेते हैं तथा धीरे धीरे ज्ञानानन्दमय स्वभाव की प्राप्ति कर लेते हैं। ससार के विषय व्याधे के समान है, जैसे व्याधा पक्षियों को अपने जाल में फसा लेता है और पराधीन कर नाना प्रकार के कष्ट देता है, उसी प्रकार विषय भी जीव को पराधीन कर नाना प्रकार के कष्ट पहुँचाते हैं।

१११ व पद्य से लेकर ११५ वें पद्य तक जीव की कर्म जन्य प्रवृ-त्तियो का विश्लेषण करते हुए बताया गया है कि कर्मभार से दबे रहने

के कारण संसार के बन्धनो मे डालनेवाली बातो मे जीव का मन विशेष लगता है। यह जीव रागवर्धक चर्चाएँ प्रेम से करता है, विषय-कषायो की बातों से कभी अघाता नहा, इसकी रुचि इनकी ओर हो जाती है। परन्तु आत्म-शुद्धि की ओर प्रयत्न करते ही शरीर मे आलस्य आता है, मन शिथिल हो जाता है तथा आँखो से पानी गिरने लगता है। यह सब कर्मबन्धन की महिमा है कर्मों के कारण ही जीव मे इतना अधिक विकार आ गया है, जिससे यह प्रयत्न करने पर भी आत्मोत्थान की ओर प्रवृत्त नही होता है ।

११६ वे पद्य मे पञ्चपरमेष्ठी के ध्यान का वर्णन किया गया है। "णमो अरिहन्ताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण" मन्त्र का जाप करना चाहिये। इस मन्त्र के पञ्चपरमेष्ठी वाचक पाँचो पदो का पृथक् पृथक् ध्यान करना चाहिये। ध्यान करने से विकार भस्म हो जाते है और आत्मा निर्मल निकल आती है। ध्यान करने की विधि विस्तार के साथ विवेचन मे बतायी गयी है।

११७ वे पद्य से लेकर १२२ वे पद्य तक विकारो, कषायो और वासनाओ का निरूपण किया गया है तथा बताया गया है कि ये विकारभाव आत्मा के निजी भाव नहीं है, उपाधि जन्य है। आत्मा को इन सब से पृथक् समझना चाहिये। आत्मिक शक्ति का विकास और प्रसार तभी हो सकता है, जब इन विकारो की वास्तविकता हृदयगम हो जाय ।

१२३ वें पद्य से लेकर १२७ वे पद्य तक काम-वासना की क्षण भंगुरता तथा उसके मोहकरूप से बचने के लिये भगवान् के नाम का आधार लेने को कहा गया है। धन और वासनाएँ, जो कि जीव को संसार सागर मे भ्रमण करनेवाली वस्तुएँ हैं जिनके वशीभूत होकर जीव अपने को भूल जाता है, प्रभु के नामोच्चारण से उन्हे अपने अधीन कर सकता है। भगवान के नाम मे अद्भुत शक्ति है, यद्यपि भगवान् कुछ करते-धरते नहीं है, वे वीतरागी हैं, परन्तु उनके नाम के स्मरण से स्वय आत्मा मे विचित्र शक्ति आ जाती है। गुण स्मरण, नामोच्चारण, अर्चन, पूजन, स्तवन आदि कियाएँ इस जीव को शान्ति देनेवाली हैं।

इस प्रकार कवि रत्नाकर वर्णी ने इस ग्रन्थ मे अध्यात्मरस का अनूठा वर्णन किया है। यह संसार यात्रा से थके पथिक को विश्राम देनेवाला है और आत्मानुभूति प्राप्त करने मे सहायक है।

आत्मनिवेदन

प्रस्तुत सम्पादन के सम्बन्ध मे हम कुछ नहीं लिखना चाहते हैं। अनुवाद के साथ विवेचन लिखा गया है, जिसमे प्रत्येक श्लोक से सम्बन्ध रखनेवाले आध्यात्मिक भावों का प्रकटी करण किया गया है। हमारा अनुमान है कि इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से श्रावकों का ज्ञान के विकास के साथ-साथ चारित्र गुण की वृद्धि मे भी सहायता मिलेगी। इस द्वितीय भाग मे आत्मिक शान्ति प्राप्त करने के साधनों मे विशेषत पूजन, अर्चन, नामोच्चारण एव भगवद्भक्ति है। वासनाओं, तृष्णाओं एव विकारों को दूर करने का एकमात्र उपाय आत्मध्यान, आत्मचिन्तन

तथा आत्मानुभूति है व्यक्ति को जब तक आत्मास्था नहीं होती, उसे ससार मे भटकना ही पड़ता है। जैनागम मे मिथ्यात्व की मोटी परिभाषा शरीर से मोह-बुद्धि उत्पन्न करना एव विषय-कषायो को पुष्ट करने की निरन्तर प्रवृत्ति रखना बतायी है। अतएव इस मिथ्यात्व का त्यागना आवश्यक है। गृहस्थ और मुनि दोनो ही मिथ्यात्व के कारण कष्ट सदा अनुभव करते है। अतएव सबसे प्रथम प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शरीर, विषय और कषायो से मोह-बुद्धि को हटाना चाहिये। आत्मा का सदा स्वतन्त्र, स्वरूप से ज्ञान दर्शनमय और निर्लिप्त मानना तथा विकारो को जीतना आवश्यक है।

इस द्वितीय भाग को तैयार करने मे श्री सरस्वती प्रेस के सचालक श्रीमान् बा० देवेन्द्र किशोरजी जैन एव श्री जैन बालाविश्राम आरा की सचालिका श्री ब्र० प० चन्दाबाई जी से निरन्तर सहयोग मिला है, अत उन्हे हम आशीर्वाद देते है। प्रकाशन का कुल व्यय देनेवाली श्रीमती चम्पामणिदेवी धर्मपत्नी स्व० बा० भानुकुमारजी जैन, श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन, श्री० भैरवकुमारजी जैन रईस एव समस्त दिगम्बर जैन समाज आरा को शुभाशीर्वाद देते है, जिनके सहयोग से मुनिसघ के समस्त कार्य निर्विघ्न रूप से चल रहे है।

मुनिसघ शुभाशीर्वाद

ज्येष्ठ शुक्ल १४
वि०नि० २४७६

स्व० श्रीमान् बाबू भानु कुमार चन्द

तथा

धर्मपत्नी श्रीमती चम्पामणी देवी, आरा

जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का कुल व्यय दिया है।]
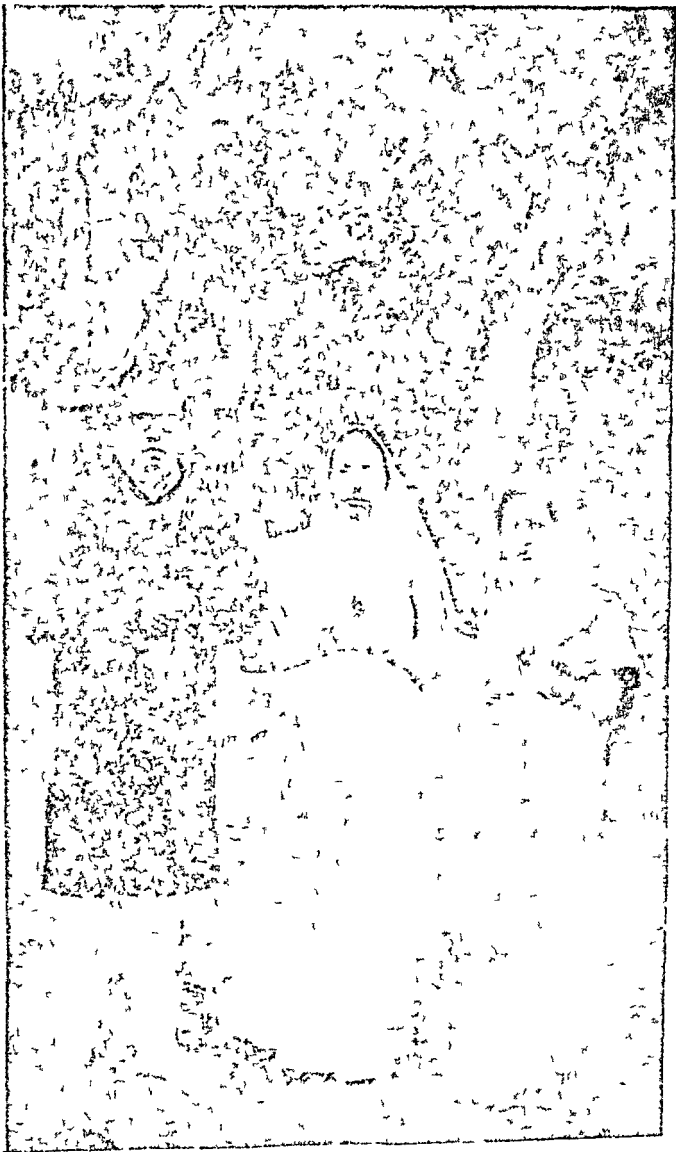
श्री नरेन्द्र कुमार जैन, तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती
प्रेमलता कुमारी जैन, एवं उनकी सुपुत्री
प्रीति कुमारी जैन

विषय—सूची

६५ पद्य ५३—५६

ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतिपादन, विषयाभिलाषा, विकारी वचना, वृष्याहारसेवन, ससक्त-द्रव्य-सेवन, इन्द्रियावलोकन, शारीरिक सस्कार, अतीत स्मरण, अनागताभिलाषा एव इष्टविषय सेवन के स्वरूप और उनके त्याग करने की विधि का निरूपण।

६६ पद्य ५७—६०

युवावस्था के मद का प्रतिपादन. रागभाव की पौद्गलिकता का कथन, सम्यग्दर्शन का निरूपण, सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति का विश्लेषण।

६७ पद्य ६१—६४

जीव की वैभाविक और स्वाभाविक प्रवृत्तियो का विश्लेषण, वैभाविक प्रवृत्ति के कारण जीव की वर्तमान अवस्था का वर्णन तथा जीव की पाशविक प्रवृत्तियो का कथन।

६८ पद्य ६५—६८

भावना के निर्माण के साथ वचनो का सम्बन्ध, विकथाओ का वर्णन, पुण्य कथाओ के श्रवण पर जोर एव दृढ आत्मिक विश्वास का कथन।

६९ पद्य ६९—७२

ज्ञान की महत्ता का चिन्तन। ज्ञानोत्पत्ति के साधनो का कथन एव गद्य और पद्य की चर्चा।

७० पद्य ७३—७६

अज्ञानी के मन का वर्णन, मोहान्ध होने से कुप्रवृत्तियो का कथन एव मोह त्याग करने के लिये विधेय उपायो का कथन।

श्रीवीतरागाय नमः

रत्नाकर शतक

(सानुवाद, विस्तृत विवेचन सहित)

द्वितीय भाग

मंगलाचरणम्

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व-साहूणं ॥
सिद्धमणंतमणिंदियमणुवममप्पुत्थ-सोक्खमणवज्जं ।
केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णय-तिमिरं जिणं णमह ।
बारह अंगग्गिज्झा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया।
विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं ॥
श्रीमत्परम-गम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्य-नाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

सिहियुं कारमुम्लमुं लोगरुवुप्पुं कैपेयुं बेरे वे-
रे हित दोर्कु मेनुत्तवक्कोलिववोल् श्रीगं दरिद्रादुरा ।।
गृह्कं भोगके रोगकं पळिकेगं केडिगेयुं वाधेगु-
त्सह्मं माळ्प गृहस्थनुं सुखियला रत्नाकराधीश्वरा ।।५१।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

मीठा, कड़वा, तिक्त, नमकीन और खट्टा ये अलग अलग रुचि बतानेवाले रस है। इसी प्रकार ऐश्वर्य, दरिद्रता, दुराग्रह, भोग, रोग, निद्रा, नाश और बाधा को ने स्वरूप से अलग मानकर उत्साहित रहनेवाला गृहस्थ क्या सुखी नही है? ।।५१।।

विवेचन— व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य जीवन में नाना प्रकार के दुःख-सुख के अवसर आते है। कभी यह ऐश्वर्य पाकर आनन्द से नाचने लगता है, तो कभी दरिद्रता के आने पर विलाप करने लगता है। भोग के समय आनन्द मानता है, पर रोग के समय यही कष्ट का अनुभव करता है। इसी प्रकार सयोग, वियोग, उत्पत्ति, विनाश, साता, असाता आदि के अवसर आते है। इनमें प्रत्येक व्यक्ति को नाना प्रकार के अनुभव होते हैं। जिस प्रकार भोजन में मधुर, लवण, आम्ल, तिक्त, कटु रसों का अनुभव होता है, तथा इन रसों के रहने से भोजन स्वादिष्ट माना जाता है उसी प्रकार मानव जीवन का निर्माण भी विभिन्न परिस्थितियों के आने

पर ही होता है । जो व्यक्ति इन विचित्र हर्ष-विषाद कारक परिस्थितियों में दृढ़ रहते है, विचलित नहीं होते तथा इन्हें व्यावहारिक जीवन के लिये आवश्यक मानते है वे कभी दुःखी नहीं हो सकते। वास्तव में आत्मा का स्वभाव तो सुख स्वरूप ही है, दुःख का उसके ऊपर केवल आरोपण किया गया है । इस आरोपित धर्म का जब मनुष्य को अनुभव हो जाता है तो वह अपने वास्तविक रूप को समझ लेता है। और यह संसार की विभिन्न परिस्थितियों को समझकर धैर्य धारण करता है ।

यदि ऐश्वर्य, दरिद्रता में समदृष्टि मनुष्य को प्राप्त हो जाय, तो फिर वह कभी दुःखी नहीं हो सकता है। दुःख का अनुभव तभी तक होता है, जब तक भेद-बुद्धि लगी रहती है। मनुष्य जब तक अपना, तेरा समझता है और परपदार्थों के साथ ममता रखता है तभी तक उनके संयोग वियोग से कष्ट का अनुभव करता है। पदार्थ के नाश होने पर उसके साथ अपना ममत्वभाव रहने के कारण ही तो व्यक्ति को दुःख होता है। जब ममत्वभाव अलग हो जाता है तो फिर उसके नाश से कष्ट नहीं होता । अतएव सुख प्राप्त करने का एकमात्र नियम समताभाव ही है। जहाँ समता है, वहाँ शान्ति है, सुख है और है सच्चा विवेक। ऐश्वर्य और दरिद्रता तो पौद्गलिक कर्मों का विपाक है। इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं।

जो व्यक्ति सासारिक प्रलोभनों के आनेपर निचलित नहीं होता है, हर्ष-विषाद की स्थिति में तटस्थ रहता है तथा अनासक्तभाव से संसार के प्रत्येक काम को करता रहता है, वह साम्यभाव का धारी होता है। ऐसा ही सम्यग्दृष्टि जीव अपने कर्मजाल को नष्ट करने में समर्थ होता है, यही 'जल में भिन्न कमल है' की कहावत को चरितार्थ करता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक जब ससार की प्रत्येक स्थिति का अनुभव कर लेता है, उसका मन ससार के प्रत्येक प्रकार के अनुभव से परिपक्व हो जाता है तो वह तटस्थ-वृत्ति को प्राप्त हो जाता है। साधारण व्यक्ति मे और सम्यग्दृष्टि मे इतना ही अन्तर होता है कि प्रथम विपत्तियों के आने पर घबडा जाता है, पर द्वितीय सर्वदा सुमेरु के समान अडिग रहता है। मनुष्य की मनुष्यता की परख विपत्ति के समय ही होती है। आचार्य ने इसी कारण सुख-दुःख में समताभाव रखने के लिये कहा है। साम्यभाव की जागृति हो जाना ही सद्विवेक का सूचक है साम्य-भाव परपदार्थों से मोह बुद्धि को दूर करने में परम सहायक है। अत. प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुःख में समताभाव धारण करना चाहिये। यह समताभाव आत्मा का गुण है, इसकी जागृति होने से आत्मस्वरूप की उपलब्धि में विलम्ब नहीं होता।

घटिका पात्रकनन्य रोळ्कथेयनोंदं सूचिसुत्तिर्दोडं ।
स्फुटदि चित्तमुमत्तियु पदपदक्का पात्रेय सार्गुमें ॥
तुट्टु तानंब तुट्टाह्य दोळ्नेगळ्दोड ध्यान त्तणक्कोर्मेसं-
घट सलिन्नम्म पदंग ळोळ्सुखियला रत्नाकराधीश्वरा ॥५२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

घड़ी रखनेवाले व्यक्ति अन्य कार्यों को करते रहने पर भी अपना ध्यान घडी पर ही (समय देखने के लिए) रखते है। उसी प्रकार बाह्य तु ओ पर ध्यान रखने पर भी जो व्यक्ति बारम्बार आपके चरणों में आसक्त रहता है क्या वह सुखी नही है ? ॥५२॥

विवेचन— समार के समस्त प्रलोभनो से हटाकर जो अपने को प्रभुचरणों में लगा देता है, वह अपना कल्याण अवश्य कर लेता है। ससार के कार्यों को करते हुए भी इनमें आसक्त न होना, यही व्यक्ति की विशेषता है। मोहक प्रलोभन अपनी ओर व्यक्ति को अवश्य खींचते है, मनुष्य लुब्धक होकर विषयों की ओर आकृष्ट हो जाता है और अपने इस मनुष्य जीवन को नष्ट कर देता है। हर क्षण प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिये कि इस जीवन में लेशमात्र भी सुख नहीं है।

जिनके पास अक्षय लक्ष्मी, धन-दौलत, मोटर-गाड़ी, रथ-पालकी, नौकर-चाकर प्रभृति सभी सुख के सामान वर्तमान है, राज्य में भी जिनकी प्रतिष्ठा होती है, जिनकी आज्ञा बड़े-बड़े व्यक्ति

मानते हैं, जिनके संकेत मात्र से दूसरों का हित, अहित हो सकता है ऐसे सर्वसुख सम्पन्न व्यक्ति भी ऊपर से भले ही सुखी दिखायी पड़ते हों; पर वास्तव में वे भी सुखी नहीं है। उनके भीतर भी कोई न कोई दुःख लगा ही रहता है, उनकी आत्मा भी भीतरी दुःख से छटपटाती रहती है। अतः ससार को नीरस समझ कर इससे आसक्ति का त्याग करना होगा। आसक्ति जीव को विषयों में बलपूर्वक खींचकर लगा देती है, इससे जीव उनमें तन्मय हो जाता है, अपना हित-अहित कुछ भी नहीं देखता है। सांसारिक सुखों की तृष्णा इस जीव को अपनी ओर देखने के लिये बाध्य करती है, जिससे विषयी तो तत्क्षण उस ओर झुक हो जाते है। जो अपने को सुबुद्ध भी समझते है, उनको भी इनका चाकचिक्य चकाचौंधित किये बिना नहीं मानता।

प्रत्येक क्षण मनुष्य को सजग रहने की आवश्यकता है। उसे इन धोखेबाज कुगतियों में लेजानेवाले विषयों का त्याग करना पड़ेगा। विषय मनुष्य को ठगनेवाले है, ये आत्मा की शक्ति को आच्छादित करनेवाले है। संसारी जीव, जिनका आत्मिक विकास अभी बिल्कुल नहीं हुआ है जल्द ही विषयों के आधीन हो जाते है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को आत्मचिन्तन एव आत्म-मनन की ओर प्रवृत्त होना चाहिये।

आत्मोत्थान को केन्द्रविन्दु मानकर संसार के कार्यों को करते हुए तथा अजीविका अर्जन करते हुए भी अपने को निर्लिप्त अनुभव करनेवाला व्यक्ति ही अनासक्त कर्म करनेवाला कहा जायगा। जैसे कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी जल से बिल्कुल भिन्न रहता है, ठीक इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को ससार के भोगों से भिन्न रहना चाहिये। मोह के उदय से सम्यग्दृष्टि को भी वीतराग चारित्र की प्राप्ति मे बाधाएँ आती है, चारित्र की घातक कषायें बार-बार उत्पन्न होकर आत्म-सम्पत्ति को प्रकट नहीं होने देती है। मोह आत्माकी शुद्धिमें सब से बडा बाधक है, इसके कारण प्राणी को नाना प्रकार के त्रास उत्पन्न होते है, वह अपने स्वरूप को भूल जाता है।

दिन-रात प्रत्येक व्यक्ति आत्म-तत्त्व की आस्था से रहित होकर परपदार्थों को अपना समझ कर पुद्गल से अनुराग कर रहा है, जिसमे यह अपने निज रूप को भूला हुआ है। अर्हन्त भगवान् और सिद्ध भगवान् के चरणों का ध्यान रखनेवाला अपने निज-रूप को प्राप्त कर ही लेता है। वह प्रभु-भक्ति में लीन होकर अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप का स्मरण करता है, शुद्ध आत्मा को ससार के विषयों से पृथक् मानता है तथा अपनी शुद्ध परिणति में लीन हो जाता है अतः प्रभु-भक्ति अवश्य करनी चाहिये।

पिडिदीतन कैगे सूत्रवेनसुं सिल्किर्दोडं व्योमदोळ् ।
नडेगुं गाळिपटं समंतदर बोल्मेय्योळ्मनं जंजडं ॥
बडेदित्तल्सिलुकिर्दोडं नेनडु लोकाग्रक्के पायदत्तला-
गडे सिध्दांघ्रिगळाळ्पळचे सुखियै रत्नाकराधीश्वरा ॥५३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मनुष्य पतंग को उडाने के लिए जब हाथ में लेता है तब डोरी थोडी रहती है। 'डोरी के बढाने पर पतंग आकाश में जा खेलती है। विपत्ति ग्रस्त शरीर मे फंसे रहने पर भी मन स्मरण-शक्ति के सहारे सिद्धभगवान के कमलरूपी चरणों का स्पर्श कर सुखी होता है ॥५२॥

विवेचन---जैसे डोरी के सहारे पतग आकाश में चढ जाती है, इसी प्रकार विषयों के आधीन होकर मन भी स्वानुभूति से या सिद्ध-भगवान की भक्ति से दूर हट जाता है। वायु जिस प्रकार पतग को आकाश में ऊँचा चढा देती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म इस जीव को भक्ति से हटा देता है। मन के स्थिर हुए बिना विषयों से विरक्ति कभी नहीं हो सकती है तथा विषयों में आसक्ति बनी ही रहती है, अतः मन को ध्यान के द्वारा एकाग्र करना चाहिये। मन को एकाग्र करने के लिये एकान्त में अभ्यास करना परम आवश्यक है तथा कभी भी मन को खाली नहीं रखना चाहिये। जिनके पास काम ज्यादा नहीं होता उनका मन खाली

समय में अवश्य इधर-उधर भटकता है। अतः सर्वदा मन को सोचने के कार्य में रत रखना चाहिये।

आत्मा के इस सीमित शक्तिवाले शरीर में रहने पर भी जागरूक, सावधान प्राणी अपने हित को साधन कर लेता है। यथार्थता यह है कि अनादिकालीन कर्मों से आबद्ध होने के कारण आत्मा स्वतन्त्र नहीं है और अपने निज स्वभाव में विचरण कर रहा है; इसी कारण यह साधारण दशा में पडा हुआ शरीर से आविष्ट होकर अनेक प्रकार के क्लेश और बन्धनों को सहन कर रहा है। शरीर में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वर्तमान है, पर आत्मा में ये चारो गुण नहीं है अतः 'यः अतति गच्छति जानाति सः आत्मा' अर्थात् जानने देखनेवाला आत्मा है।

मेरे आत्मा में निश्चय से कर्मों का बन्ध नहीं है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा कर्मों के कारण समस्त पदार्थों का ज्ञाता नहीं है जैसी आत्मा मुझ में है वैसी ही ऐकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, लट, चिऊँटी, भौंरा, मक्खी, हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, स्त्री, पुरुष आदि जीवों में वर्तमान है। इनमें भी जानने देखने की शक्ति है, किन्तु इनका ज्ञान आच्छादित मात्रा में ज्यादा है। अतः अपनी शक्ति के विकास के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि संसार के

सभी जीवों को अपने समान समझा जाय, उनसे प्रेम-भाव रखा जाय तथा सभी प्राणियों के सुख दु:ख को अपने समान माना जाय। पूरी अहिंसा भावना के जाग्रत हुए बिना जीव में सिद्ध-भक्ति करने की योग्यता नहीं आती है। अहिंसक वृत्तिवाला व्यक्ति अपने भीतर आत्मिक शान्ति सरलता पूर्वक उत्पन्न कर सकता है।

कर्म-मल से मलीन अपनी आत्मा को स्वच्छ करने का एक अनुपम साधन यह अहिंसा है। अहिंसा द्वारा ही सुत, स्त्री, धन, धान्य, गृह, व्यापार आदि से जीव अपनी ममता को दूर कर सकता है। काम, क्रोध, लोभ आदि तुच्छ वृत्तियो का विध्वंस अहिंसा ही द्वारा किया जा सकता है। दिव्य, अनुपम, अलौकिक आनन्द का आस्वादन एव कार्माण शरीर को सर्वथा दूर करने का उपाय अहिंसा ही है। अहिंसक सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद, लाभ-हानि, मान-अपमान आदि में तुल्य रहता है, वह अपनी बुद्धि को स्थिर कर शान्ति, दया, क्षमा, नम्रता, उदारता आदि उच्च भावनाओं की भूमि में पहुँच जाता है। इसीके द्वारा भगवान् की भक्ति होती है तथा यह अनासक्त कर्म करने में प्रवृत्त रहता है।
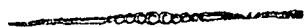
नडेवागळ्कोंकिदागळ्िळे योळ्वोळ्वा गळेळ्वागळुं।
नुडिवागळनुडिदप्पिदागळेदेंगेट्टागळ्सुरखावा तिपयोळ्।
विडिदर्हत्प्रभु सिद्धशंकर समुद्राधीश्वर त्राहि ये-।
दोडनभ्यासिसुवातने सुखियला रत्नाकराधीश्वरा-!॥५४॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

चलने-फिरने मे ठोकर खाकर जमीन पर गिरते समय, उठते समय, बात करते समय, भयभीत होते समय और सुख प्राप्ति के समय जो मनुष्य तत् क्षण "अर्हन्त परमेष्ठिने! सिद्ध परमेष्ठिने! प्रभो! हे समुद्राधिपतये! आदि कह कर भगवान को स्मरण करने का अभ्यास करनेवाला है, वह क्या सुखी नही है? ॥५४॥

विवेचन---आरम्भिक साधक के लिये प्रभु-भक्ति बड़ी भारी सहायक होती है। भक्ति में परम सुख, शान्ति, ज्ञान और आनन्द का निवास है। भगवान् की भक्ति का फल किसीको भी भौतिक सुखों के रूप में नहीं मिलता है, प्रत्युत मानसिक और आत्मिक शान्ति मिलती है। भौतिक पदार्थ बाह्य और अनित्य सुख के साधन है और ये प्रवृत्ति-मार्ग से उत्पन्न दान, पूजा, सेवा, परोपकार आदि के करने से प्राप्त होते है। प्रभु-भक्ति स्वात्मानुभूति को जाग्रत करने का एक साधन है, इससे आन्तरिक शान्ति, ज्ञान, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, तप आदि की प्राप्ति होती है। भगवान् के स्मरण

और ध्यान से आत्मा की पूर्ण श्रद्धा जाग्रत होती है, सम्यग्दर्शन दृढ़ होता है और वीतराग चारित्र की प्राप्ति होने का साधन दृष्टि-गोचर होने लगता है।

जीवन का सच्चा धर्म, कर्म यही है कि संसार के अन्य कार्यों में आसक्त रहने पर भी प्रभु-भक्ति को कभी न भूले, नित प्रति भगवान् का स्मरण, दर्शन, पूजन गुणकीर्त्तन आदि को अवश्य करता रहे। इसी में सच्ची निपुणता, चतुराई और कुशलता है कि जीव सब कुछ करते हुए भी भगवान् के चरणों का आश्रय न छोड़े। भक्ति करने से मोह रूपी अन्धकार विलीन हो जाता है और सम्यग्दर्शन रूपी भास्कर की किरणें हृदय के समस्त कालुष्य को दूर कर बोधवृत्ति को जाग्रत कर देती हैं। सच्ची शान्ति, प्रेम और पवित्रता भक्ति के द्वारा ही जाग्रत होती हैं।

यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि भौतिक पदार्थों के मनोनुकूल मिल जाने पर भक्ति करने या प्रभु के गुणों में लीन होने की भावना जल्द उत्पन्न नहीं होती है। भौतिक पदार्थों की बहुलता और उनकी आसक्ति जीव को आत्मोद्धार से दूर करती है। दुःख या विपत्ति के दिनों में जीव जिनमें भौतिक पदार्थों के संचय का अभाव रहता है, प्रभुभक्ति की ओर अधिक खिंचता है अतः भौतिक पदार्थों के सुख की अपेक्षा मनुष्य के पवित्र

चरित्र को दुःख—ताप ने ही उन्नत और उज्ज्वल बनाया है तथा शुद्धात्मानुभूति की ओर ले जाने में सहायता प्रदान की है।

भगवान् की भक्ति से तथा उनके गुणों के स्मरण से सराग चारित्र के धारी सम्यग्दृष्टि जीव को भेद-विज्ञान की प्राप्ति होती है। उसका यह ज्ञान शाब्दिक नहीं होता, बल्कि अनुभव से उत्पन्न होता है। वीतराग चारित्र को प्राप्त करने का प्रबल पुरुषार्थ उसमें जाग्रत हो जाता है। अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का भाण्डार आत्मतत्त्व उसके अनुभव में आने लगता है। पर पदार्थों से उसका मोह दूर हो जाता है और वह स्वानुभूति में लीन होता है।

जो व्यक्ति प्रभु-भक्ति के द्वारा लौकिक ऐषणा की पूर्त्ति करना चाहता है, वह ससार में सोने के बदले में मिट्टी खरीदनेवाला है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसने प्रभुभक्ति का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझा। भगवान् की आराधना से लौकिक इच्छाओं की तृप्ति करना सब से बड़ी मूर्खता है। वीतरागी प्रभु के गुणों के चिन्तन से जब अनादि कालीन कर्मबद्ध आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है तो फिर कौनसा लौकिक कार्य असाध्य रह जायगा ? प्रभु-भक्ति से बड़े से बड़ा कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। अतः प्रत्येक समय चलते, फिरते, उठते, बैठते भगवान् की भक्ति करनी चाहिये।

एत्तेत्तं ललितांगि यर्सुळिदरत्तत्ताडुगुं कण्गळे-
त्तेत्त कामिनियमोंगं देगे दरत्तत्तोंदुगुं जिव्हे म- ॥
त्तेत्तेत्तं सरिमिडि यतगे दरत्तत्ते यद्दुगुं बुध्दि नि-
म्मत्तं वारदु केट्टेने वेनकटा रत्नाकराधीश्वरा ! ॥५५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सुन्दर कोमलांगी स्त्री जिधर जाती है ये आँखे भी उसी तरफ नाचती हैं। कामुक स्त्री जिधर मुह फेरती है मन भी उधर ही जाता है। युवती स्त्री, जो ऋतुमती हो चुकी है, जिधर जिधर जाती है, बुद्धि भी उधर ही उधर जाती है। आँख, मन और बुद्धि आप की तरफ नहीं जाती। हे भगवान् ! मैं तो बिगड गया, अब क्या करूँ ? ॥५५॥

विवेचन—— ससार में मनुष्य के प्रलोभन की प्रमुख दो ही वस्तुएँ है—कंचन और कामिनी। इन्हीं दोनों पदार्थों के लिये प्राणी संघर्ष करते रहते है। संसार की समस्त कलहों की जड ये दोनों ही वस्तुएँ है इनके लिये न मालूम कितने निरपराधियों की जानें गयीं, कितने मासूम बच्चों को कत्ल किया गया और न मालूम कितनी लालनाओ की अस्मत लूटी गयी। यदि ये दो मोहक पदार्थ ससार में न होते तो यह पाप लीला इतनी नहीं बढ सकती थी। आत्मानुभूति से च्युत करनेवाले ये दो ही पदार्थ है, अतः शक्ति के अनुसार इन दोनों पदार्थों के आकर्षण से बचना चाहिये।

मनुष्य में जहाँ एक बार कमजोरी आ जाती है, वहाँ वह बार-बार उस कमजोरी का शिकार होता है। विषय उसे अपनी ओर खींच ले जाते है, उसका मन और उसकी इन्द्रियाँ कुपथ में चली जाती है। अतः विषय-तृष्णा को बढानेवाली कामनी का पूर्ण त्याग करना चाहिये। एक बार जिसे कोमलाङ्गी स्त्रियों को देखने की लालसा जाग्रत हो जाती है, वह बार-बार उन्हें देखता है। लुक छिप कर देखता है, उसके मन में वासना का विषैला सर्प छुप कर बैठा रहता है। जब उसे अवसर मिलता है वह आकर डस लेता है। इसलिये शास्त्रकारों ने वासना वृद्धि की प्रमुख कारण नारी को समस्त आपदाओं की जड़ कहा है। अनेक रूपवती रमणियों के कारण युद्ध हुए है, जीवों की हत्याएँ हुई है अतः नारी को वासना की प्रतिमूर्ति मानकर उसका त्याग करना चाहिये।

आत्म-स्वरूप के विस्मृत हो जाने के कारण ही यह जीव कामिनी के रूप को देखने की लालसा करता है, उसके कुच और नितम्बों की प्रशंसा करता है, उसके अधर और नासिका को सर्वोत्तम मानता है। अतः विषय प्रवृत्ति इस जीव को मोहनीय कर्म के कारण अनादिकाल से लगी है, इस प्रवृत्ति को छोड़ना आवश्यक है। जबतक मनुष्य का मन विषयों में रमण करता है, आत्म कल्याण की ओर जा ही नहीं सकता। प्रभु-भक्ति की ओर

इस मन को लगाने का अनेक बार प्रयत्न करता है, पर जबरदस्ती विषय इस मन को अपनी ओर खींच लाते हैं।

एक नीतिकार का कहना है कि विषयों की ओर घूर कर नहीं देखना चाहिये और देखकर इनके पीछे नहीं लगना चाहिये, क्योंकि विषय-भोगों के देखने मात्र से ही विष चढ जाता है तथा मन और ही तरह का हो जाता है। जिस प्रकार साँप के काटने से उसका विष सर्वाङ्गीण व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार ये विषय भी मनुष्य को सर्वाङ्गीण कष्ट देते है जो व्यक्ति इनकी निस्सारता को समझ जाते है, इनके खोखलेपन को समझ कर भगवान की भक्ति में लग जाते है, वे अपना कल्याण अवश्य कर लेते हैं। विषयों से विरक्त हुए बिना भगवान की भक्ति भी नहीं की जा सकती है। विषय-सुख प्रभु-भक्ति में बडे भारी बाधक है। जो सम्यग्दृष्टि है, अपनी आत्मा का विकास करना चाहता है उसे इन विषय भोगों को छोड प्रभु-भक्ति में लगना चाहिये। भगवान की भक्ति रूपी मन्दाकिनी की धारा जीव के हृदय और मन को प्रक्षालित कर पूत कर देती है। अतएव मन को वश कर प्रभु-भक्ति करनी चाहिये।
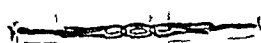
मोदलोळ्मुग्गुवनिच्चेवोट्टडने तानुच्छ्वास निःश्वासपू-
रदे केयूकाल्वडिगोंबना कडेयोळुं शक्तित्तयंदोरे त-
ळ्बिद पेण्णं बिडुगेयूदु कूडे केलदो ळ्बळ्दळ्ळे वोयूवं मन-
क्किदु लेसे ? सुखवे ? मरुळ्तनवला ? रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

(कमल नाल-सी) कमजोर आशा को प्राप्त कर मनुष्य आनन्दित होता है। उसके बाद क्षणिक प्रवाह मे वह अपने को प्रवाहित कर देता है। अन्त में बल-पौरुष के नष्ट हो जाने पर जिस स्त्री के साथ सम्भोग किया उसीके सामने पड़े रह कर हाथ-पैर घसीटता रहता है। क्या ये सारी बाते मन को अच्छी लगती हैं ? क्या यह सब पागलपन नही है ? ॥५६॥

विवेचन— विषय भोगो में यह जीव अन्धा हो जाता है, यह युवती स्त्रियों के साथ काम क्रीडा करता हुआ आनन्दित होता है। इसे विषयों के नशे के कारण जाते हुए समय का भी पता नहीं लगता है, और सारा जीवन उन्हीं में समाप्त कर देता है। जब वृद्धावस्था आती है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है, बल-पौरुष घट जाता है तो फिर यह अशक्त होकर जमीन में हाथ-पैर घिसता रहता है, और किसी प्रकार असमर्थ अवस्था में विषयाधीन कुत्ते के समान अपने मौत के दिन पूरे करता है।

भोगते समय विषय बुरे नहीं मालूम होते, वे अत्यन्त मोहक और प्रिय लगते है। इनका क्षणिक सौन्दर्य अपनी ओर खींच ही लेता है। वासना वृद्धावस्था में और भी तीव्र हो जाती है, मनुष्य जीवन के अन्तिम क्षण तक इससे छुटकारा नहीं पा सकता है। विषय सुखों से वह कभी तृप्त नहीं होता है। कहा भी गया है कि--

कामं, क्रोधं, लोभं, मोहं त्यक्त्वात्मानं पश्य हि कोऽहम् ।

आत्मविज्ञानविहीनाः मूढाः ते पच्यन्ते नरकनिगूढाः ॥

अर्थ--काम, क्रोध, लोभ और मोह को छोड कर आत्मा में देखना चाहिये कि मै कौन हूँ ? जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, जो अपने स्वरूप या आत्मा के सम्बन्ध को नहीं जानते हैं, वे अज्ञानी मूर्ख नरक में अनेक कल्पों तक दुःख भोगते है। अत· विषय सुख की आशा का त्याग करना चाहिये।

विषय-आशा ज्ञान या सद्‌बोध के द्वारा ही दूर की जा सकती है। जब तक इस जीव में ज्ञान का सचार नहीं होता है, अनुभव के द्वारा विषय-भोगों की निस्सारता को नहीं जान लेता है, तब तक यह विषयों को छोडने में असमर्थ है। कुलभद्राचार्य ने अपने शास्त्र-सार समुच्चय में ससार के कारणों का वर्णन करते हुए बताया है--

कषायाविषयैश्चितं मिथ्यात्वेन च संयुतम् ।

संसारबीजतां याति विमुक्तं मोक्षबजितम् ॥

अर्थ —कषाय और विषय-भोग में आसक्त चित्त मिथ्यात्व से युक्त होकर संसार का बीज—कारण बन जाता है। अर्थात् व्यक्ति जब तक विषय-भोग, कषाय और मिथ्यात्व इन तीनों में लिपटा रहता है, आत्मज्ञान उसे नहीं होता। जब वह इनसे अलग हो जाता है तो उसे मोक्ष प्राप्ति हो ही जाती है। विषय-भोग, कषाय और मिथ्यात्व इन तीनो के आधीन रहनेवाले जीव को हित की—त्याग की बात बुरी मालूम होती है, वह त्याग को दुष्कर समझता है तथा उसे इने-गिने व्यक्तियों की वस्तु समझता है। ससार भ्रमण इन तीनों के कारण ही होता है। इनमें मिथ्यात्व सबसे प्रबल कारण है, मिथ्यात्व के दूर होने पर विषय-भोगों से विरक्ति हो ही जाती है तथा कषायो का भी उपशम या क्षय हो जाता है अतः मिथ्यात्व— आत्मा के अटल विश्वास का अभाव अवश्य दूर करना चाहिये।

निळिचिल्लागि शिशुत्वदोळ्तनगे तां तन्नेंजलोळ्मूत्रदोळ् ।
मुळगिर्दं वळिकं विवेकवेर्देयोळ्मेयूदोरेयुं प्रायदोळ् ॥
एळेवेणोंजलनुंडु मूत्रविलदोळ् चिःनारुवी शुक्रम ।
तुळुकल्मोह्िपनात्मनें भ्रमितनो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥५७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

बचपन की अवस्था में ज्ञान रहित होने के कारण आत्मा मल-मूत्र में ही डूबा रहता है। यौवनावस्था में जब हृदय में विवेक उत्पन्न हुआ तब युवती स्त्रियों का जूठा खाते हुए (चुम्बन आदि लेते हुए) उनके दुर्गन्धमय मूत्र द्वार में अपने अमूल्य वीर्य को फेंकते चलने की इच्छा करता है। आत्मा कितना भ्रमित हो गया है ? ॥५७॥

विवेचन---मानव जीवन को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम अवस्था गर्भकाल की है, इनमें माता के रज और पिता के वीर्य से गर्भाशय में इसका शरीर बनता है, इस समय यह जीव घोर अन्धकार पूर्ण जेलखाने में हाथ-पाँवों को बाँध कर उलटा लटका रहता है। मुँह पर झिल्ली रहती है, जिससे न यह बोल सकता है और न रो सकता है। यह नौ महीने तक मल, मूत्र, खून, पीप, कफ आदि महान् घृणित गन्दे पदार्थों के मध्य में रहता है। इसके रहने का यह स्थान गन्दा होने के साथ इतना तग रहता है, जिससे अच्छी तरह हाथ-पैर भी नहीं फैला

सकता है। इस प्रकार इस नरक कुण्ड में बडे कष्ट के साथ नौ महीने व्यतीत करता है। वहाँ के कष्टों को देखकर इसके मन में कल्याण करने के भाव उत्पन्न होते है, पर निकलते ही यह मोह-माया में फस जाता है। इस प्रकार इस प्रथम अवस्था में अपने कल्याण से वञ्चित हो जाता है।

द्वितीय अवस्था बालकपन है। इस अवस्था में माता के उदर से निकलने पर इसे नाना प्रकार के अगणित कष्ट होते है। यह पराधीन और दीन रहकर कष्ट भोगता है। अशक्तता, अज्ञानता, चपलता, दीनता, दुःख संताप आदि विकारों के आधीन होकर यह कष्ट उठाता है। बालक में इच्छाएँ इतनी रहती है जिनके कारण वह नाना पदार्थों के लेने के लिये अग्रसर होता है। असमर्थता के कारण उसकी सारी इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती है, जिससे उसे नाना प्रकार के कष्ट होते है। बालक में चंचलता इतनी अधीक रहती है जिससे उसे एक क्षण के लिये भी शान्ति नहीं मिलती। वह नाना प्रकार के पदार्थों को लेने की चेष्टा करता है, पर ले नहीं पाता। उसे भय भी अधिक रहता है, कभी वह पशुओं से भय करता है, तो कभी पक्षियों से, तो कभी मनुष्यों से। उसका विश्वास किसी पर नहीं होता, वह सदा शंकित और भयभीत रहता है।

बालक को इष्ट-अनिष्ट पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है, जिसमे वह सॉप और आग जैसे खतरनाक पदार्थों को भी पकड लेता है। शिशु के मन में जितना संताप रहता है, उतना सताप बड़े मनुष्यों में नहीं होता। उसका हृदय कुम्हार के अवॉ की तरह निरन्तर जला करता है, उसकी असमर्थता और दीनता उसे कुछ नहीं करने देती। बालक अशक्तता के कारण न तो स्वयं उठ सकता है, न बैठ सकता है, न खा सकता है, न पानी पी सकता है, उसकी सुख सुविधा के सारे कार्य दूसरो के ऊपर आश्रित रहते है। वह अपने मन के भाव और विचारों को दूसरों पर प्रकट नहीं कर सकता है, इस कारण उसे महा कष्ट होता है।

मल-मूत्र भी जिस स्थान पर सोता है, उसी पर कर देता है और उसी में अपने शरीर को डाले हुए रोता रहता है। सारे शरीर में ये दोनो अपवित्र पदार्थ लग जाते है, जिससे इसे भीतर ही भीतर अपार वेदना होती है। जब कुछ बडा भी यह हो जाता है तो भी यह पराधीन ही रहता है, अपने हित-अहित का विवेक इसे प्राप्त नहीं होता। यह खेलने, खाने, रोने सोने आदि में अपने समय को नष्ट कर देता है। आत्मकल्याण की ओर इस दूसरी अवस्था में भी यह ध्यान नहीं देता है और न इसे इतना बोध ही रहता है, जिससे यह अपना कल्याण कर सके।

तृतीय अवस्था युवावस्था है। इस अवस्था में शादी कर यह जीव विषय सुखो की ओर झुक जाता है। इसके सिर पर नाना प्रकार की चिन्ताएँ आजाती है। रोजगार या नौकरी न मिलने से दुःखी होता है। यदि धनी घर मे जन्म लिया तो यौवन और प्रभुता के मद में आकर नाना प्रकार के अनर्थ कर डालता है। युवावस्था में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार आदि विकार एकत्रित होकर इसके आत्मधन को लूटते है, चित्त कभी शान्त नहीं रहता, विषयो की ओर दौड लगाता है। विषयो का सयोग होने से तृष्णा बढती है जिससे अहर्निश व्यक्ति को कष्ट भोगना पड़ता है।

युवावस्था में मन विषयों की ओर अधिक जाता है, कामिनी और कंचन दोनों ही अधिक प्रिय लगते है। स्त्रियों की भावभंगिमाएँ सुखकर प्रतीत होती है। वैराग्य, शान्ति और त्याग की बातें युवकों को अच्छी नहीं लगतीं, वे समझते है कि ये सब कार्य बूढे होने पर करने है, अभी जवानी के दिन खाने-पीने, मौज-बहार करने के है। अभी बूढे थोड़े ही हो गये है जिससे सन्यास ले लिया जाय। त्याग और वैराग्य की बातें करनेवाले उनकी दृष्टि में पागल और बुद्धू होते है। बड़े से बड़ा अनर्थ इस युवावस्था में लोग करते है। आत्मकल्याण की ओर तनिक भी ध्यान नहीं जाने पाता है अतः इस अवस्था को भी यह मनुष्य विषयान्ध बन

कर खो देता है। आत्मचिन्तन, प्रभु-भक्ति, धर्म-सेवन की ओर युवक की दृष्टि भी नहीं जाती, जिससे यह तीसरी अवस्था भी यों ही निकल जाती है।

चौथा वृद्धावस्था है। बाल्यावस्था जड, युवावस्था अनर्थ और पापों का मूल है तथा वृद्धावस्था जर्जरित और क्षीण होती है। इसमें बाल सफेद हो जाते है, दॉत गिर जाते है, ऑखों की ज्योति कम हो जाती है, कानों से सुनाई नहीं देता है, पैरों से चला नहीं जाता है, कमर टेढी हो जाती है, जिससे लकडी टेक-टेक कर चलना पडता है। कफ और खॉसी अपना अड्डा जमा लेते है, सॉस फूलने लगती है तथा अनेक प्रकार के रोग घेर लेते है। स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी भी बूढे को दुरदुराने लगते है, सब प्रकार से उसे अपमान सहन करना पड़ता है। इतना सब कुछ होते हुए भी तृष्णा, अनगपीडा, अशक्तता, खॉसी दिनों दिन बढती जाती है। जैसे वृक्ष में आग लगने से धुँआ निकलता है, उसी तरह शरीर रूपी वृक्ष में वृद्धावस्था रूपी अग्नि के लगने से तृष्णा रूपी धुँआ निकलता है। मौत के दिन निकट आते जाते है, पर तृष्णा, विषय-लालसा बढती ही जाती हैं।

वृद्धावस्था मे इन्द्रियॉ निर्बल हो जाती है, शरीर अशक्त हो जाता है फिर भी कामिनी की लालसा नहीं छूटती। मनुष्य असमर्थ

होते हुए भी विषय-रस-चिन्तन में अपना समय व्यतीत कर देता है। कभी-कभी संसार से ऊब कर बूढे को अपनी युवावस्था के कृत्य याद आते है, उसे अपने किये का पश्चात्ताप होता है, प्रभु-भक्ति करने के लिये उत्सुक होता है। संसार से विरक्त भी होता है, पर शरीर के असमर्थ रहने के कारण कुछ नहीं कर पाता। उसके सारे मनसूबों को मृत्यु समाप्त कर देती है और वह संसार के चक्कर में पुनः फस कर जन्म-मरण के दुःख उठाता रहता है। इस प्रकार यह चतुर्थ अवस्था भी यों ही बीत जाती है; आत्मोद्धार इसमें भी नहीं हो पाता।

पञ्चम अवस्था मरण है। इसमें जीव मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाता है और शरीर को श्मशान में फूंक दिया जाता है। जो व्यक्ति इस मनुष्य जीवन की सारहीनता को समझ लेते है, अपने आत्मकल्याण के लिये युवावस्था का उपयोग कर लेते है, वे धन्य है। इस दुर्लभ नर-भव को पाकर आत्मचिन्तन कर निर्वाण प्राप्त करना चाहिये; ऐसा अवसर पुनः प्राप्त नही होगा।

सुखवेंबसुखवेंतो निर्मलबल सुज्ञानमुं काएके स-
न्मुख वादंददु सौख्यवंगनेय संभोगांत्यदोळ् हेयदु- ॥
न्मुखमुं शक्तिविनाशमुं मरवेयुं निद्राजडंदोरेयुं ।
सुख वेंदेंबरदेनोदुसुंखरला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥५८॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

स्त्री-भोग में लोग सुख मानते हैं। क्या यह सुख है? निर्मल शरीर, श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन का प्राप्त होना वास्तविक सुख है। स्त्री-भोग के अत में हेय बुद्धि से पराङ्मुखता, शक्ति क्षय, विस्मरणता, निद्रा और आलस के प्राप्त होने पर मनुष्य अनेक विपरीत वस्तुओं में सुख मानता है, यह कैसी आश्चर्यजनक बात है? ॥५८॥

विवेचन— स्त्री, पुत्र, धन, धान्य से जब आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, तो इन पदार्थों से सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है? सासारिक दृष्टि से स्त्री के लिये पुरुष और पुरुष के लिये स्त्री सुख का साधन मना जाता है। पुरुष युवावस्था में स्त्री को सब कुछ समझता है और स्त्री पुरुष को। इस विषय-वासना से उत्पन्न सुख की प्राप्ति के लिये ही सभी स्त्री-पुरुष निरन्तर प्रयत्न करते रहते है। विषय-वासना से उत्पन्न सुख क्षणभर के लिये भले ही शान्तिदायक प्रतीत हो, पर इसका परिणाम अशान्तिकारक है। जैसे दाद खुजलाने पर आनन्द मालूम होता है, पर अन्त

में जलन होती है, उसी प्रकार वैषयिक सुख, प्रारम्भ में भले ही सुखदायक प्रतीत हों, अन्त में अवश्य कष्टदायक होते है। विषय-रस से इस जीव को तृप्ति कभी नहीं होती है, लालसा उत्तरोत्तर बढती जाती है, जिससे महान् कष्ट का सामना करना पड़ता है।

वास्तविक सुख इस आत्मा के भीतर ही वर्तमान है। आत्मा अपने को जब अनुभव कर लेती है, तब आनन्द का स्रोत भीतर से उमड़ पडता है। ज्ञान, दर्शन और सुख ये तो आत्मा के स्वरूप ही है, स्वरूप से ही आत्मा में ये गुण वर्तमान है आत्मा को ये कही बाहर से नहीं लाने पडते है, बल्कि प्रयत्न द्वारा इन पर पडे परदे को दूर किया जाता है। इन्द्रिय जन्य सुखों से शक्ति क्षय होने पर घृणा या ग्लानि हो जाती है, तथा अरुचि होने पर ये बडे ही नीरस मालूम पडते है। किन्तु आत्मिक सुख विलक्षण होता है, इससे कभी भी घृणा नहीं होती। अनन्तकाल तक भी आत्मा इससे अघाता या ऊबता नहीं; अत' प्रत्येक व्यक्ति को सांसारिक सुख से विरक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये।

आध्यात्मिक रस के अनुभवी को सासारिक मोह-मया व्याप्त नहीं करती है वह विषयानन्द और आत्मानन्द दोनों के अन्तर को हृदयगम कर लेता है। अनेकान्त के स्वरूप को अच्छी तरह जान लेता है—

"तत्स्वात्मकवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानरूपेण तत्त्वात् बहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपतातिरिक्तपररूपेणासत्त्वात् सहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशसमुदयरूपाविभागैकद्रव्येणैकत्वात् अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभावेन सत्त्वात् परद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभावेनासत्त्वात् अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात् क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात् तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वञ्च प्रकाशित एव"।

अर्थ-- आत्मा अन्तरंग में देदीप्यमान ज्ञान स्वरूप की अपेक्षा सत्स्वरूप है, पर बाह्य में उदयरूप जो अनन्त ज्ञेय है, जब वे ज्ञान में प्रतिभासित होते है तब ज्ञान में उनका विकल्प होता है, इस प्रकार ज्ञेयतापन्न जो ज्ञान का रूप है जो कि वस्तुत ज्ञान स्वरूप से भिन्न पर रूप है, उसकी अपेक्षा असत्स्वरूप है अर्थात् ज्ञान ज्ञेय रूप नहीं होता। सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चिदंशों के समुदायरूप जो अविभागी एक द्रव्य है, उसकी अपेक्षा एक स्वरूप है अर्थात् द्रव्य में जितने गुण हैं वे अन्वयरूप से ही उसमें सदा रहते हैं, विशेषरूप से नहीं। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय प्रतिक्षण

बदलती रहती है और द्रव्य में जितने गुण है वे सब पर्याय से रहित नहीं है, उनमें भी परिवर्तन होता रहता है। अतः आत्मा में सामान्य की अपेक्षा से ध्रौव्य और विशेष की अपेक्षा से परिवर्तन-शीलता वर्तमान है। पर्यायों की अपेक्षा से ही आत्मा का चिदंश विकृत होकर राग, द्वेष, मोह रूप में परिणामन करता है। योंतो आत्मा शुद्ध और निष्कलंक है।

साधने की इच्छा रखते है, तभी तक ये पर पदार्थ प्रिय मालूम होते है, इनके परिणमन से सुख प्रतीत होता है। पर ये पदार्थ सदा इच्छानुसार परिणमन नहीं करते, जीव इनका परिणमन शीघ्र चाहता है, ये देर से परिणमन करते है अथवा इनका वियोग हो जाता है, इससे अनेक आकुलताओं के कारण उपस्थित हो जाते है। जिनके हृदय में सच्चा विवेक जाग्रत हो गया है, उन्हें इस मोहवृत्तिका अवश्य त्याग करना चाहिये। मोह के कारण ही जीव में राग-द्वेष की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे आत्मा में उत्त-रोत्तर विकार आता जाता है। कर्मों का बन्धन भी दृढ होता जाता है, जिससे इस जीव का भविष्य भी दुःखद हो जाता है।

परभाव—पर पदार्थों से मोह करना, उन्हे अपना मानना ही सासारिक दुःख का प्रधान हेतु है। इन्द्रिय-सुख आत्मा का रूप नहीं, आत्मा का रूप तो अतीन्द्रिय अनन्त सुख है। वीतरागता रूप आत्म-सुख में रमण करने पर आकुलता उत्पन्न होती ही नहीं है। राग,मोह और अहकार के रहने पर जीव को नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते है, वह दिनरात कष्टों से सन्तप्त रहता है। तृष्णावश अपने स्वरूप को भूल अन्य को पाने के लिये लालायत रहता है, जिससे सर्वदा इसे अपने आनन्द स्वरूप से वचित होना पड़ता है। परमात्मप्रकाश में आचार्य ने बताया है कि *"वीतराग-*

स्वसंवेदनज्ञानरताः मुनयः किं कुर्वन्ति। परसंसर्ग त्यजन्ति निश्चये-नाभ्यन्तरे रागादिभावकर्म-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म-शरीरादि नोकर्म च बाहिर्विषये मिथ्यात्वरागादिपरिणतासंवृतजनोऽपि परद्रव्यं भण्यते"।
अर्थात् शुद्धोपयोग स्वसवेदन ज्ञान में लीन वीतरागी परद्रव्यों के साथ अपना सम्बन्ध छोड़ देते है। अन्दर के विकार रागादि भाव-कर्म और बाहर के शरीरादि नोकर्म ये सब परपदार्थ है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु को आत्मभाव के सिवा सब परद्रव्यों का सम्बन्ध छोड़ देना चाहिये। स्त्री सुख में तनिक भी आनन्द नहीं, वास्तविक आनन्द तो आत्मा के स्वरूप में रमण करने पर ही प्राप्त होता है।

जिस साधक को आत्मानन्द की अनुभूति हो जाती है, उसका विषयानन्द से मन बिल्कुल हट जाता है। उसे ऐन्द्रियिक सुख हेय प्रतीत होने लगते है। आत्मिक भाव उसे अपने प्रतीत होते है तथा विकारों को वह परकृत मानता है। ज्ञान और दर्शन जो कि आत्मा की अपनी निज शक्तियाँ है, उनके भीतर वह तल्लीन होने का प्रयत्न करता है।

यदि ज्ञानचक्षुओं को खोलकर देखा जाय तो स्त्रीसुख कभी भी कल्याणकारी नही हो सकता है। इससे कभी संतोष नहीं हो सकता। विषयाशा बढती ही जाती है, अतः इस दुःखदायी आशा को ज्ञानामृत या संतोष से ही जीता जा सकता है।

एनोंदुग्रमो नोड नोटवरिवे मेय्याद शुद्धात्मनं ।
मीनाक्षीतनु तन्न तळ्किदोडं नेत्रंगळं कट्टि सु- ॥
ज्ञानंगुंदिसि मूर्छे गेय्सि पेएने बोल्माडुगुं मत्तद-
क्कानंद मिगे मुग्गुवं मरुळला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥५९॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

ज्ञान और दर्शनमय शरीर में निवास करनेवाले शुद्धात्मा की विचित्र दशा है। आलिङ्गित और चुम्बित होने की दशा मे स्त्री-शरीर की दशा कुछ इस प्रकार हो जाती है कि उसकी आंखे मुद जाती है, श्रेष्ठ ज्ञान से शून्य होने के कारण शरीर मूर्च्छित हो कर मुर्दे की तरह पड जाता है। कितनी भयंकर स्थिति है ! विषय-सुख में ज्यादा सुख मानने से शरीर को ठोकर लगती है। ऐसा करनेवाले क्या पागलो की श्रेणी में नही है ? ॥५९॥

विवेचन— जबतक इस जीव की शरीर मे आत्मबुद्धि रहती है, तबतक वह अपने निजानन्द रस का स्वाद नहीं ले पाता है। न इस जीव को अपनी अनन्त चतुष्टयरूप—अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य की प्रतीति होती है।यह ससारी जीव स्त्री, मित्र, पुत्र, धन, धान्यादि को अपना मानता है। इन पदार्थों के सयोग-वियोग में हर्ष-विषाद भी इसे होता रहता है। संसार के जितने दुःख और प्रपच है, वे सब शरीर के साथ ही है। अतः जबतक जीव की शरीर में आत्मबुद्धि रहती है, यह अपने स्वरूप को नहीं समझ सकता है। यही सबसे बड़ा

मिथ्यात्व है, इसी मिथ्यात्व के कारण यह जीव स्त्री-भोग—विषयानन्द में सुख मानता है ।

वास्तविक बात यह है कि जहाँ आनन्द की प्राप्ति होती है, जीव वहाँ अपनी प्रवृत्ति करता है, दुःखद व्यापारों से अपनी प्रवृत्ति को हटाता है। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, सम्पत्ति, वैभव आदि सभी पदार्थ आत्मा से पर है, इनका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भिन्न है। पर पदार्थों का परिणमन सदा पर रूप से अपने-अपने में होता है और आत्मा का परिणमन आत्मरूप में होता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्ररूप से अपना-अपना अस्तित्व पृथक् रखता है तथा परिणमन भी स्वतन्त्ररूप से होता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य रूप कभी भी परिणमन नहीं होता है। केवल जीव और पुद्गल में भाववती शक्ति के साथ क्रियावती शक्ति के रहने के कारण विकृत परिणमन होता है, परन्तु यह विकार भी स्वभाव से बिल्कुल भिन्न नहीं होता। उपयोग और शक्ति के लगाने पर इस विकार को अपने स्वरूप परिणमन द्वारा दूर किया जा सकता है ।

जीव जबतक शरीर, स्त्री आदि पर पदार्थों को अपना मानकर उनके मोह में अपने आत्मस्वरूप को भूले रहते है, अपनी इच्छानुसार उन शरीरादि पदार्थों के परिणमावने तथा उनसे विषय-भोग

साधने की इच्छा रखते है, तभी तक ये पर पदार्थ प्रिय मालूम होते है, इनके परिणमन से सुख प्रतीत होता है। पर ये पदार्थ सदा इच्छानुसार परिणमन नहीं करते, जीव इनका परिणमन शीघ्र चाहता है, ये देर से परिणमन करते है अथवा इनका वियोग हो जाता है, इससे अनेक आकुलताओं के कारण उपस्थित हो जाते है। जिनके हृदय में सच्चा विवेक जाग्रत हो गया है, उन्हे इस मोहवृत्तिका अवश्य त्याग करना चाहिये। मोह के कारण ही जीव में राग-द्वेष की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे आत्मा मे उत्तरोत्तर विकार आता जाता है। कर्मों का बन्धन भी दृढ़ होता जाता है, जिससे इस जीव का भविष्य भी दुःखद हो जाता है।

परभाव—पर पदार्थों से मोह करना, उन्हे अपना मानना ही सासारिक दुःख का प्रधान हेतु है। इन्द्रिय-सुख आत्मा का रूप नहीं, आत्मा का रूप तो अतीन्द्रिय अनन्त सुख है। वीतरागता रूप आत्म-सुख मे रमण करने पर आकुलता उत्पन्न होती ही नहीं है। राग,मोह और अहकार के रहने पर जीव को नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते है, वह दिनरात कष्टों से सन्तप्त रहता है। तृष्णावश अपने स्वरूप को भूल अन्य को पाने के लिये लालायत रहता है, जिससे सर्वदा इसे अपने आनन्द स्वरूप से वचित होना पड़ता है। परमात्मप्रकाश में आचार्य ने बताया है कि "*वीतराग-*

स्वसंवेदनज्ञानरताः मुनयः किं कुर्वन्ति। परसंसर्गं त्यजन्ति निश्चये-नाभ्यन्तरे रागादिभावकर्म-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म-शरीरादि नोकर्म च बाहेर्विषये मिथ्यात्वरागादिपरिणतासंवृतजनोऽपि परद्रव्यं भण्यते"।
अर्थात् शुद्धोपयोग स्वसवेदन ज्ञान में लीन वीतरागी परद्रव्यों के साथ अपना सम्बन्ध छोड़ देते है। अन्दर के विकार रागादि भाव-कर्म और बाहर के शरीरादि नोकर्म ये सब परपदार्थ है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु को आत्मभाव के सिवा सब परद्रव्यों का सम्बन्ध छोड़ देना चाहिये। स्त्री सुख में तनिक भी आनन्द नहीं, वास्तविक आनन्द तो आत्मा के स्वरूप में रमण करने पर ही प्राप्त होता है।

जिस साधक को आत्मानन्द की अनुभूति हो जाती है, उसका विषयानन्द से मन बिल्कुल हट जाता है। उसे ऐन्द्रियिक सुख हेय प्रतीत होने लगते है। आत्मिक भाव उसे अपने प्रतीत होते है तथा विकारों को वह परकृत मानता है। ज्ञान और दर्शन जो कि आत्मा की अपनी निज शक्तियाँ है, उनके भीतर वह तल्लीन होने का प्रयत्न करता है।

यदि ज्ञानचक्षुओं को खोलकर देखा जाय तो स्त्रीसुख कभी भी कल्याणकारी नहीं हो सकता है। इससे कभी सतोष नहीं हो सकता। विषयाशा बढती ही जाती है, अतः इस दुःखदायी आशा को ज्ञानामृत या संतोष से ही जीता जा सकता है।

मदवेदानेगे कल्ल पोय्वुदिनिदे ? मेक्यूतींटेगं कज्जिगं ।
वदियं तोडुवुदो ळिळ तल्तु वंगेवदात्मंगे नारीरतं ।
मुदवल्तादोडमतदं बिडलशक्यं बिट्टोडी यौवनो-
न्मदद्रुद्रेक वडंगदेवेनकटा ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मदोन्मत्त हाथी पर पत्थर फेंकने से कोई लाभ नहीं होता । शरीर में खुजली नामक रोग हो जाने पर यदि कीचड़ का लेप किया जाय तो यह भी लाभप्रद सिद्ध नहीं होगा । इसी प्रकार विचार कर देखा जाय तो विदित होगा कि स्त्री-सभोग भी आत्मा को सतोष देनेवाला सिद्ध नही हो सकता। फिर भी स्त्री-सभोग से पिण्ड छुड़ा सकना कठिन कार्य है। छोड़ देने से भी यौवन मद अधिक शान्त नहीं होता। हा, हन्त मैं क्या करूँ ! ॥६०॥

विवेचन— यद्यपि सभी लोग विषय-भोगों की असारता को जानते है, फिर भी इन्हें छोडने में असमर्थ रहते है। इन भोगों को भोगने से जीव को शान्ति नहीं मिल सकती है, जीव जितना भोगता चला जता है, उतनी ही विषय-लालसा बढती चली जाती है। जैसे जलती अग्नि में उत्तरोत्तर ईंधन डालने पर अग्नि प्रज्वलित होती जाती है, वैसे ही विषय-लालसा भोगने से शान्त नहीं होती, बल्कि अहर्निश बढ़ती ही चली जाती है। विष-येच्छा को कम करने का एकमात्र उपाय त्याग ही है। त्याग से

ही शान्ति मिल सकती है, तथा अपने आत्मस्वरूप का अनुभव भी होने लगता है। विकारों की वृद्धि का प्रमुख कारण विकारों को भोग द्वारा शान्त करना है, जब तक जीव यह समझता रहता है कि विषय-भोगों को भोगने से विषय-लालसा शान्त हो जायगी, विकार बढ़ते रहते है। परन्तु जिस समय जीव के हृदय में त्याग-वृत्ति जाग्रत हो जाती है, विषय-तृष्णा मृगतृष्णा के समान प्रतीत होने लगती है।

आचार्यों ने विषय-लालसा को वश करने के लिये प्रशम—कषायों का अभाव, यम—त्याग, समाधि—स्वरूप में लय होना, ध्यान—एकाग्रचित्त, भेदविज्ञान—स्व-पर के ज्ञान का अभ्यास बताया है। जब तक कषायों की तीव्रता रहती है, विषयेच्छा को जीता नहीं जा सकता। कषायों के मन्द या क्षीण होने पर भोग-लालसा अपने-आप शान्त हो जाती है। अतएव सरल परिणामी हो कर रागादि भावों को छोडने का प्रयत्न निरन्तर करना चाहिये। यम अर्थात् इन्द्रिय निग्रह करना और विषय-कषायों को त्याग करना भी अब्रह्म के त्याग में सहायक है। जब तक मनुष्य रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के विषयों के आधीन रहेगा, तबतक मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता है। केवल जननेन्द्रि को वश करना ही ब्रह्मचर्य नहीं है, प्रत्युत पाँचों इन्द्रियों के विषयों को त्यागना है।

मनुष्य जब तक अच्छे-अच्छे सुस्वादु पदार्थों के भक्षण की लालसा रखता है, सुगन्धित इत्र, तैल, पुष्प आदि को सूंघने की आकांक्षा करता है; सिनेमा, नाटक, नृत्य आदि के देखने की अभिलाषा रखता है एवं श्रेष्ठ गान सुनने की लालसा करता है तबतक वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं कर सकता है। ब्रह्मचर्य को पालन करते ही इन्द्रिय और मन की प्रवृत्ति नियन्त्रित हो जाती है।

ध्यान भी ब्रह्मचर्य प्राप्ति में सहायक है। मन बहुत चचल है, इसकी गति वायु से भी तीव्र है, अतः यह निरन्तर अपनी गति से विषयों की ओर दौडता रहता है। शारीरिक दृष्टि से आत्म-संयम करने पर भी मानसिक दृष्टि से सयम नहीं हो पाता अतएव आचार्यों ने मन को एकाग्र करने पर विशेष जोर दिया है। मन के एकाग्र करने से मन में वासनाएँ उत्पन्न नहीं होती है, मन स्थिर हो जाता है। बाह्य पदार्थ जिनका आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, मन के स्थिर हो जाने से परप्रतीत होने लगते है। चारित्र-मोहनीय के तीव्रोदय के कारण जीव सराग-भाव ग्रहण करता है। उसके मन में मन्थन होता है जिससे निरन्तर आकुलता बनी रहती है। मन के वश हो जाने से राग-बुद्धि दूर हो जाती है तथा इन्द्रिय संयम और प्राणि-सयम, इन दोनों का पालन जीव अच्छी तरह से करने लगता है।

समाधि—ब्रह्मस्वरूप आत्मा के स्वरूप में रमण करने पर ही वास्तविक ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होती है। परपदार्थों में रमण करना अब्रह्म है। ज्ञानी जीव भेदविज्ञान द्वारा आत्मा और शरीर आदि की भिन्नता का अनुभव कर अपने स्वरूप में विचरण करता है। जब तक जीव में अज्ञान, मोह और राग रहता है, तभी तक वह विषय-भोगों की ओर प्रवृत्त होता है, अतः प्रशम, त्याग, ध्यान और समाधि के अभ्यास द्वारा ब्रह्मचर्य की ओर बढना चाहिये।

उपर्युक्त चारों साधनों के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने विकारों को शान्त कर सकता है। कोई शाब्दिक ज्ञान वासनाओं को जीतने में सहायक नहीं है, इसके लिये वास्तविक अनुभूति होनी चाहिये। यों तो कषायों के अभाव होने पर ही विकार पूर्णतया शान्त होते है। आगम में बताया है कि कषायों की प्रवृत्ति नौवें गुणस्थान तक विशेषरूप से रहती है, इसी कारण राग, द्वेष आदि विकार भी वहीं तक उत्पन्न होते है। दसवे गुणस्थान में केवल सूक्ष्म लोभ रह जाता है, जिससे विकारों के अभाव हो जाने से इस गुणस्थान में आत्मा की प्रवृत्ति प्रायः विशुद्धरूप में ही होती है।

तनुवेळ्कॆयवनौषधक्केळमने ? पित्तोर्जितं देहशो-
धनेयं माळ्पवोलंवनाखुरतदिं तन्निद्रियं गोगे यौ- ॥
वनतापं निलुगं निलल्चरिते सल्गुं सद्गृहस्थंगे त-
त्तनुवेटॆंव मुनिश्वरंगुचितवे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शरीर की आरोग्यता की कामना करनेवाले दवा की अपेक्षा रखते हैं। जिस प्रकार मनुष्य अधिक पित्तज्वर हो जाने पर वमन आदि उपचार से शारीरिक शुद्धि प्राप्त करता है उसी प्रकार काम पीड़ित होने पर मनुष्य स्त्री-सम्भोग से वीर्य का स्खलन कर यौवन-ताप को शान्त कर लेता है। श्रेष्ठ गृहस्थ ऐसा आचरण कर सन्तान की उत्पत्ति करते हैं। परन्तु जिस श्रेष्ठ व्यक्ति को सन्तान की कामना नहीं है क्या उसे भी स्त्री-सम्भोग योग्य है ? ॥६१॥

विवेचन— चारित्र मोह के प्रबल उदय में विषय-भोग काम शमन का हेतु होता है, पर वस्तुतः इससे शान्ति नहीं होती है। आचार्यों ने ब्रह्मचर्य को आत्मा का स्वभाव माना है तथा इसके विकास को आत्मा का विकास माना है। ब्रह्मचर्य के दो भेद हैं—सकल और विकल। सकल—पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन समस्त इन्द्रियों और मन के जीतने पर ही हो सकता है, इस अवस्था में स्वात्मानुभूति के अतिरिक्त अन्य समस्त अनुभूतियाँ अब्रह्म है। सांसारिक किसी भी पदार्थ की प्राप्ति की कामना अब्रह्म

है। ब्रह्मचर्य का धारी ही स्वसमय रत माना जाता है तथा अब्रह्मचर्यवाला परसमय रत होता है। प्रवचनसार की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने बताया है— *"ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीय द्रव्यपर्यायं सकलविधानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावनक्लीवास्तस्मिन्नेवाशक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवेतन्मनुष्यशरीरमित्याहङ्कारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा संगत्वात्परसमया जायन्ते। ये तु अविचलितचेतनाविलासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमनाश्रयन्तो विश्रान्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदासीन्यमवलम्ब्यमाना निरस्तसमस्तपरद्रव्यसंगातितया स्वद्रव्येणैव केवलेन संगतत्वात्स्वसमया जायन्ते"*। अर्थात् जो जीव समस्त अविद्याओं का मूल कारण जीव पुद्गल स्वरूप असमान जातिवाले द्रव्यपर्याय को प्राप्त हुए है और आत्मस्वभाव की भावना में नपुंसक के समान अशक्त है, वे निश्चय से एकान्ती है। 'मै मनुष्य हूँ यह मेरा शरीर है' इस प्रकार नाना अहंकार और ममकार भावो से युक्त हो अविचलित चेतना विलासरूप आत्मव्यवहार

से च्युत होकर समस्त निन्द्य क्रियासमूह के अंगीकार करने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। ऐसे जीव परद्रव्यों में रत रहने के कारण परसमय रत कहलाते हैं। और जो समस्त विद्याओं के मूलभूत आत्मभाव को प्राप्त हुए है, अहंकार और ममकार भावों से रहित है तथा अविचलित चैतन्य विलासरूप आत्म-व्यवहार को स्वीकार करते हैं एवं राग-द्वेष के अभाव से परम उदासीन है और समस्त पर द्रव्यों की संगति दूर करके केवल आत्मस्वभाव में रत है वे स्वसमय कहलाते हैं।

ब्रह्मचर्य की भावना के हृदयंगम होने पर जीव परद्रव्यों की आसक्ति छोड़ स्वात्मा में रत हो जाता है, यही जीव की स्वसमय परिणति कहलाती है। जबतक परद्रव्यों से जीव को सुख प्राप्ति की आकांक्षा रहती है, आत्मव्यवहार से च्युत होकर निन्द्य क्रिया समूह में संलग्न रहता है, स्त्री, पुत्र आदि को सुख का साधन मानता है, तबतक उसकी अब्रह्म प्रवृत्ति रहती है। परद्रव्यों से आसक्ति दूर होते ही जीव के हृदय में ब्रह्मचर्य की भावना जाग्रत हो जाती है। वह समस्त विद्याओं के मूलभूत आत्मतत्त्व को प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टि अनेकान्तमय हो जाती है और वह चैतन्य विलासरूप आत्मा में विचरण करने लगता है तथा असमान जातीय मनुष्य पर्याय के रहस्य को वह जानता है।

विपमोद्रेकद् जव्वनदळेदोळं तत्प्रायदिं पेण्गळोळ् ।
विषयक्का टिसनावगं परमतत्त्वज्ञानसंतुष्टंकं ॥
रिसि तानक्केम शिष्यनक्केम अवं मानुष्यनल्तल्तु नि-
र्विषरूपं निरघं निरावरणनै रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

यौवन के तीव्रतम ताप को प्राप्त होने पर भी जो व्यक्ति स्त्री-संभोग में उत्साह न रख कर ज्ञान जैसे श्रेष्ठ तत्व से सन्तोष प्राप्त करे वह तपस्वी है, साधारण मनुष्य नहीं। वह विष के समान विषय सुख से सर्वथा रहित है—पाप रहित है और ज्ञानावरणादि कर्मों से भी रहित है ॥६२॥

विवेचन—युवावस्था के प्राप्त होने पर भी जो व्यक्ति विषय-भोगों से विरक्त होकर विवेक ग्रहण करता है, वह पुरुषार्थी माना गया है। ऐसा आत्मार्थी मोह-क्षोभ से रहित होने के कारण शीघ्र अपना कल्याण कर लेता है। ससार के विषय-कषाय उसे विकृत नहीं करते, ज्ञानावरणादि, द्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भाव कर्म और शरीरादि नोकर्म से भी वह जल्द छुटकारा पा लेता है। जीव को विषयों की ओर लेजानेवाली प्रवृत्ति महान् हानिकारक है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मिक शक्ति को विकसित करने के लिये विषय-वासना का त्याग करना आवश्यक है। आत्मा का सबसे बड़ा अहित इन विषय-वासनाओं के द्वारा ही होता है। ये विषय इतने भयंकर है कि इनके सेवन से कोई भी शान्ति नहीं

सासारिक जीव अज्ञान से आच्छादित है, इसलिये परकीय पदार्थों में मोहित हैं, ज्ञानम्वरूप शुद्ध आत्मज्ञान से रहित हैं, इस कारण परम-तृप्ति-कारक अनीन्द्रिय सुख से वंचित रहते है। विवेक-रूपी चक्षु संसारी जीवों की अपनी कार्य करनेवाली शक्ति से रहित हो जाती है, जिससे ज्ञान नेत्रों के अभाव में आत्मानुभूति नहीं हो पाती है। मोह के कारण यह जीव उन्मत्त होकर अनात्मज्ञ बनता है, आत्मिक भावों और क्रियाओं से पराङ्मुख हो जाता है। यद्यपि यह जीव बार-बार काम-भोगों को धिक्कारता है, निन्दा करता है, पर प्रबल उदय आने पर अपने समस्त पुरुषार्थ को छोड़ बैठता है और विषयों की ओर बलात् खिंच जाता है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डियों को अपनी दाढ़ों से चबाता है और अपने ही मुख से निकलनेवाले रक्त को चाटकर कुछ क्षण के लिये आनन्द का अनुभव करता है, पीछे अपनी मूर्खता को समझ कर भौंकता है, चीखता है, इसी प्रकार विषयासक्ति में कृत्रिम सुख की झलक को देखकर विषयों में मस्त हो अज्ञानी जीव अपने-आपको भूल जाता है और स्वाभाविक आनन्द से वंचित हो जाता है। विषय-भोगों के दोषों का वर्णन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने बताया है—

घृणास्पदमतिक्रूरं पापाढ्यं योगिदूषितम् ।
जनोऽयं कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वितः ॥

दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शङ्किताशयम् ।
विलक्ष्यं कुरुते लोकं स्मरवैरिविजृम्भितः ॥
नाहि क्षणमपि स्वस्थं चेतः स्वप्नेऽपि जायते ।
मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥
जानन्नापि न जानाति पश्यन्नापि न पश्यति ।
लोकः कामानलज्वालाकलापकवलीकृतः ॥
भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगाः सप्तैव देहिनः ।
स्मरभोगीन्द्रदष्टानां दश स्युस्ते भयानकाः ॥

अर्थ—काम रूपी सिंह से चर्वित यह जीव योगियों से निन्दित, पाप से युक्त अत्यन्त क्रूर और घृणास्पद कार्यों को करता है। विषय-भोगों की आकाक्षा जीव को दिशामूढ़ कर देती है, जिससे जीव उन्मत्त और भयभीत होकर लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है। विषयों की शल्य एक क्षण भी जीव को शान्ति नहीं मिलने देती, जीव को इस शल्य द्वारा निरन्तर आकुलता होती है। सब कुछ जानता हुआ भी जीव कुछ नहीं जानता है, सब कुछ देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता है। विषय-वासना का विष कालकूट के विष से तीक्ष्ण होता है, क्योंकि कालकूट के विष को दूर करने का उपाय किया जा सकता है, पर इसका कुछ भी उपाय नही हो सकता है। यह

वासना का विप सर्प के विष से भी उग्र होता है, क्योंकि सर्प के काटने पर जीव को सात ही वेग आते हैं, पर कामरूपी सर्प के डसने पर दस वेग आते है, जिनसे जीव का महान् अनिष्ट होता है। संसार की परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अतएव ब्रह्मचर्य का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये अत्यावश्यक है।

प्रायः देखा भी जाता है कि वासना के प्रचण्ड होने पर मनुष्य अपने को नियन्त्रित नहीं कर पाता है, उसके मनमें बडी-भारी अशान्ति उत्पन्न होती है। एकक्षण भी उसे शान्ति नहीं मिल सकती। यद्यपि विषयी जीव वासना की पूर्ति में आनन्द मानते हैं, पर इस वासना के ज्वर के दूर हो जाने पर वे भी इसकी निन्दा करते हैं तथा दूसरों को कहते है कि इसमें तनिक भी सुख नहीं। असल बात यह है कि सुख वासना तृप्ति में नहीं, सुख है आत्मा में। जब आत्मिक भावों में जीव लग जाता है तो उसे सुख की प्राप्ति हो जाती है।

मदुँमानिनियुं समाणमरिवंगंतल्लदे पेण्णोळों-
दिदुँ श्रीजिनदत्तनुं कपिलमित्रं वारिषेणादिगळ् ॥
सार्दिर्पर्सुडुगाडनेकें ? तपवेक्का पर्वदोळ्मत्ते पे-
ण्णिर्दत्तेडुवरेयिद्र्युं भ्रमितरो ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

ज्ञानियों के लिए स्त्री और औषधि दोनों समान ही है। श्री जिन-दत्त, कपिलमित्र, वारिषेण इत्यादि स्त्रियों के साथ रहने पर भी आत्म कल्याण में रत रहे। स्त्रियों के रहने के स्थान मे आते-जाते रहने पर भी ये मोहित नहीं हुए ॥६३॥

विवेचन—संसार में सबसे बड़ी वीरता इन्द्रियों के जीतने में है; जिस व्यक्तिने इनको अपने आधीन करलयिा है, वह सर्व श्रेष्ठ शूर है। बड़े-बड़े तपस्वी और यति-मुनि भी अवसर आनेपर इन्द्रियों के विषयों में लीन हो जाते है, उनकी जीवन भर की तपस्या धूल में मिल जाती है। यों तो सभी इन्द्रियाँ जीव को कुमार्ग में ले जा-नेवाली है, सभी के विषय अपनी-अपनी दृष्टिसे आकर्षक है। पर प्रधान रूप से स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषय बहुत लुभावने है, ये दोनों इन्द्रियाँ ही जीव के सामने रंगीन दृश्य उपस्थित करती हैं। स्पर्शन इन्द्रिय की आसक्ति जीव में काम-भावों को जाग्रत करती हैं, यह सहस्रों वर्ष की तपस्या और साधना को एक क्षण में समाप्त कर देती है। इस इन्द्रिय के आधीन हुआ जीव अपने

हित-अहित के विवेक को खो देता है और दिनरात विषय चिन्तन में रत रहने लगता है। स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों को उत्तेजना देनेवाली रसना इन्द्रिय है। मनुष्य जैसे-जैसे गरिष्ठ पदार्थों का भक्षण करता है, वैसे-वैसे उसकी विषय-वासना जाग्रत होती जाती है। रसना इन्द्रिय को रोके बिना स्पर्शन इन्द्रिय को जीतना संभव नहीं। अतः इन दोनों इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति को अवश्य छोड़ना चाहिये।

जो जितेन्द्रिय हैं, वे विचलित करनेवाले निमित्तों के मिलने पर भी दृढ रहते है। संसार की कोई भी आसक्ति उन्हें नहीं झुका सकती है। अतः इन्द्रिय और मन की विषयासक्ति ही सबसे बडा दोष है। इन्द्रियाँ और मन के वश कर लेने पर जीव में अपूर्व शक्ति आ जाती है, उसका आत्मिक बल प्रकट हो जाता है। शास्त्रकारों ने संयम पालने पर इसलिये विशेष जोर दिया है कि यही जीव की प्रवृत्ति को शुद्ध करता है, अनात्मिक भावों को छुडा-कर आत्मिक भावों को जाग्रत करता है। अतः इन्द्रियाँ जो कि जीव को उन्मत्त बनाकर कुमार्ग की ओर लेजाती है, उनका दमन करना चाहिये। इन्द्रियासक्ति के समान जीव के लिये ससार में रुलानेवाली अन्य प्रवृत्ति नहीं।

विषयाधीन व्यक्ति गौरव, प्रतिष्ठा, विवेक आदि को तिलाञ्जलि दे देता है, उसका मन सदा विषयों के लिये लालायत रहता है। आत्मा की ओर देखने की उसकी रुचि नहीं होती, परन्तु जिस व्यक्ति ने धैर्य धारण कर लिया है, विषयों की लम्पटता को त्याग दिया है वह नरक रूपी महल में नहीं प्रवेश करता है। उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ उसे सम्यक् चारित्र की प्राप्ति भी हो जाती है। ब्रह्मचर्य की प्राप्ति के लिये कुसंगति का त्याग अवश्य करना चाहिये। कुसंसर्ग से मनुष्य में नाना प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते है, सत्सगति ही एक ऐसी वस्तु है जिससे व्यक्ति एक क्षण में ही महान् बन सकता है। कुसंगति से त्यागी और जितेन्द्रिय व्यक्ति भी कुमार्ग में पड जाते हैं अतः ब्रह्मचारी के लिये असंयमी स्त्री-पुरुषों का साथ त्यागना आवश्यक है। आचार्य शुभचन्द्रने बताया है कि शरीर और विषय-भोगों में अनुराग रखने से जीव का उद्धार जल्द संभव नहीं। ध्यान की सिद्धि भी विरक्त होने पर ही हो सकती है। क्योंकि सासारिक भोगों से विरक्त हुए बिना चित्त में एकाग्रता नहीं आ सकती है।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥

अर्थ——कोई भी जीव कामभोगों से विरक्त होकर, शरीर की स्पृहा को छोड कर तथा परिणामों में निर्ममत्व रखने पर ही ध्यान करनेवाला ध्याता हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि भोगों की अभिलाषा रहने पर चित्त ध्यान में कैसे लगेगा ? शरीर में अनुराग रहने पर उसको संवारने और पुष्ट करने की चिन्ता सदा व्याप्त रहेगी, जिससे चित्त चंचल रहेगा और ध्याता ध्यान नहीं कर सकेगा। अतः विषय-वासनाओं की लालसा को त्याग कर आत्मा का ध्यान सदा करना चाहिये। ब्रह्मचर्य ही एक ऐसा गुण है जिससे कोई भी व्यक्ति सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।
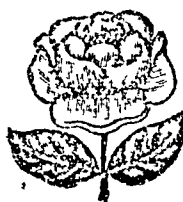
धारापूर्वकमाद पेण्गळोळवर् प्रत्येकमेकैक प-
त्नि रागव्रतिकर् मदत्तय निमित्तं काममं तीर्चुवर् ॥
वारस्त्रीवहुलांगनापरवधूचेटीरतक्काटिसर् ।
सारात्मर्जिनदत्तमुख्यरघरे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

श्री जिनदत्त आदि सदाचारियों ने धर्मपूर्वक ग्रहण की हुई एकही स्त्री के सहवास मे सतोष प्राप्त करने का व्रत लिया था। उन लोगो ने काम रूपी शत्रु को शांत करने के लिए एक ही स्त्री के साथ अपनी इच्छा की पूर्ति की। वेश्या, बहुपत्नी, परस्त्री, दासी के साथ संम्भोग करने में कभी उत्साहित नही हुए। पवित्रात्मा श्री जिनदत्तादि क्या कभी पापी कहे जायँगे ? ॥६४॥

विवेचन—— ब्रह्मचर्य व्रत के आगम में दो भेद किये है—ब्रह्मचर्य महाव्रत और ब्रह्मचर्याणुव्रत। ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन तो तभी हो सकता है जब पर विषयों की प्रवृत्तिमात्र का त्याग कर दिया जाय। पर विषयों की ओर थोड़ी प्रवृत्ति भी अब्रह्म है। जो आत्मज्ञानी है, जिन्होंने अपनी बाह्य-वृत्तियों का त्याग कर दिया है, और आत्मा के भीतर जो रमण करते है उन्हें परपदार्थों की तुच्छता का आभास हो जाता है। उनकी आत्मप्रवृत्ति में किसी भी बाह्य निमित्त से क्षोभ नहीं होता है। सांसारिक विभूतियाँ उन्हें चलायमान नहीं कर सकतीं। आत्मा के सिवा अन्य किसी

भी पदार्थ में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती है, जगत् के सभी पदार्थ उन्हें तुच्छ प्रतीत होते है।

ब्रह्मचर्य महाव्रतधारी की दृष्टि में स्त्री हाड-मास का पुतला होती है, उसके मनमें कोई भी विकार नहीं रहता है। आत्मा में अपूर्व ज्योति आ जाती है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का धारी समस्त इन्द्रिय और कषायों को जीत लेता है, उसकी इन्द्रिय-विषयों में लालसा नहीं रहती है, समस्त परपदार्थों से अनुराग हट जाता है, ज्ञायक आत्मा की प्रतीति हो जाती है।

जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते है, उन्हें ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करना चाहिये। ब्रह्मचर्याणुव्रत का अभिप्राय यह है कि काम विकार को दूर करने के लिये स्त्री या पुरुष को शील-व्रत लेना चाहिये अर्थात् पुरुप को स्वदार संतोष और स्त्री को पातिव्रत ग्रहण करना है। जो व्यक्ति आजन्म केवल विकार को दूर करने के लिये ही स्वदार का उपयोग करता है, वह पवित्रात्मा जल्द ही निर्वाण प्राप्त करता है। अपनी कर्मराशि को थोड़े ही समय में नाश कर परमपद को प्राप्त हो जाता है। प्रथमानुयोग में सती सीता और सेठ सुदर्शन आदि के ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनके ब्रह्मचर्याणुव्रत के प्रभाव से अग्नि शीतल और जल का सरोवर बन गयी थी, बड़ी से बड़ी विपत्ति भी टल गयी और व्रत के प्रभाव से

सर्वत्र कीर्त्ति छा गयी। जो व्यक्ति एक देश ब्रह्मचर्य का निरतिचार पालन करता है, ब्रह्मचर्यव्रत को दृढ करनेवाली भावनाओं का चिन्तन करता है, वह धन्य है।

इस संसार में कंचन और कामनी ये दो ही पदार्थ प्रधानतः आसक्ति के कारण है। जो व्यक्ति इन दोनों को शक्ति के अनुसार छोडता है उसमें अपूर्व शक्ति आ जाती है। आत्मा की आच्छादित अनन्त शक्तियाँ उद्‌बुद्ध हो जाती है। जिन लोगों की दुष्प्रवृत्ति रहती है, उनका विवेक नष्ट हो जाता है, वे निन्द्य विषय-भोगों में आसक्त हो अधे हो जाते है, अन्याय करते है तथा स्वच्छन्द विहारी हो जीवन भर पाप पंक में फंसे रहते है। इस कामदेव—विपय-वासना के अनेक नाम है। वे सब सार्थक हैं। यह आत्मा में गर्व उत्पन्न करता है, इसलिये इसे कंदर्प कहते है। विषयों में नाना प्रकार की अभिलाषाएँ उत्पन्न करने के कारण इसे काम, नाना योनियों में भ्रमण कराता है तथा प्राणियो को विषयों के लिये लडाता रहता है, इसलिये मार और संवर का घातक होने के कारण संवरारि कहते हैं। ब्रह्मचर्य के विना समस्त व्रत, तप, जप व्यर्थ है। कायक्लेश सहन करना, उपवास आदि करना ब्रह्मचर्य के अभाव में निष्फल है। स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों से विरक्त होने पर ही आत्मस्वरूप की उज्वलता दिखलायी पड़ती है। ब्रह्मचर्य

के पालन करने के लिये नृत्य, गान और गरिष्ठ भोजन का त्याग करना परम आवश्यक है। मादक पदार्थों का सेवन भी ब्रह्मचर्य में बाधक है, ब्रह्मचारी को शारीरिक श्रृंगार करना, इन्द्रियों की लम्पटता को बढानेवाले पदार्थों का सेवन करना बिल्कुल वर्ज्य है। एकदेश ब्रह्मचर्य के धारी में भी अद्भुत आत्मशक्ति आ जाती है। उसका स्वास्थ्य सदा अच्छा रहता है। रोग उसके ऊपर आक्रमण नहीं कर पाते है। वह जितेन्द्रिय बनकर अपने चचल मन को वश करता है तथा अपना उत्तरोत्तर विकाश करता हुआ चला जाता है।
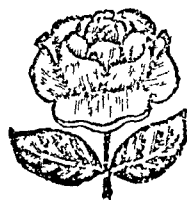
सत्याधिष्ठितधर्ममं तिळिदु जीवं तन्ननी कामव-
प्रत्याख्यान कपायसंभवदे सुत्तित्तेदु पेएगूडियुं ॥
रत्यंतोद्‌भव हेयमं नेनेयुतं पोगल्‌जयं पेएगे ता-
नत्यंत प्रियवद्धनागे किडने ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जीवात्मा ने यथार्थ धर्म को न जान कर "क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे कषाय के प्रादुर्भाव से स्त्री-सम्भोग से अपने को लिप्त कर रखा है" किन्तु रति-सुख का अनुभव करने पर भी सम्भोग के अंत मे जो घृणा उत्पन्न होती है उसका स्मरण करते रहने से विषयोपभोग की कासना पर विजय प्राप्त की जा सकती है। स्त्रियो में अधिक आसक्त होने से मनुष्य नाश को प्राप्त नही होगा ? ॥६५॥

विवेचन--- औषध के समान गृहस्थ को विषयों का सेवन करना चाहिये। अधिक विषयो को भोगने से व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार की व्याधियाँ हो जाती हैं, जिससे उसका जीवन कष्टमय बीतता है। यदि कोई भी व्यक्ति विचार कर देखे तो उसे विषय-भोगो की असारता अपने-आप अनुभव में आजायगी। भोगों को भोगने के पश्चात् एक विचित्र प्रकार की घृणा और अरुचि उत्पन्न होती है, जिससे उनकी सारहीनता प्रत्यक्ष हो जाती है। जो व्यक्ति ससार के भोगो में अधिक आसक्त रहता है, उसका सब प्रकार से विनाश अवश्यम्भावी है। इन्द्रिय जय के

समान संसार में कोई भी सुखदायक नहीं है। विषयों को छोड़ने के लिये तथा ब्रह्मचर्य के पालन के लिये निम्न दस प्रकार के अब्रह्म का त्यागना आवश्यक है। ये आत्मा में हिंसा-भाव उत्पन्न करते हैं, परपदार्थों की ओर लगाते है।

१— विषयाभिलाष-शृंगार रस का श्रवण, मनन करना, सुन्दर गीत सुनना, सुगन्धित द्रव्यो के सूंघने की अभिलाषा करना, रूपवती स्त्रियों तथा पुरुषों के देखने की लालसा मनमें करना, विषयाभिलाष नामक अब्रह्म है। इसमे आत्मा में अत्यन्त आकुलता उत्पन्न होती है। कोई भी व्यक्ति इस अभिलाषा के कारण हेयोपादेय के विवेक से शून्य हो जाता है। उसका विषयी मन विषयों में घूमता रहता है, अपने और पर के विचारने के लिये उसे अवसर नहीं मिलता।

२—विकारी बनना—विषयाभिलाषा के उत्पन्न होने पर विकार युक्त होना तथा उन विकारों को शान्त करने का प्रयत्न करना। इस दूसरी अवस्था में विषयेच्छा के तृप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

३—वृष्याहार सेवन—समस्त इन्द्रियों को जीतने का एक मात्र साधन रसनेन्द्रि का वश करना है। यदि व्यक्ति अपना आहार-विहार शुद्ध करले तो फिर इन्द्रियों को जीतना कुछ भी कठिन नहीं। भोजन का प्रभाव मन पर अवश्य पड़ता है। जैसा अनाज मनुष्य खाता

है, वैसा ही उसका मन हो जाता है। शुद्ध और सात्विक भोजन करनेवाले के मन में विकार कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। गरिष्ट और पौष्टिक आहार, जो विलम्ब से पचता है, विकार उत्पन्न करने में बहुत सहायक होता है। वास्तविक बात यह है कि भोजन का ध्येय शरीर को कायम रखना है, जिससे इस शरीर द्वारा धर्म का अर्जन होता रहे। ब्रह्मचारी की शारीरिक-शक्ति का क्षय नहीं होता, उसका शरीर ऐसा बना रहता है, जिससे अल्प और सादा भोजन से ही शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाती है। अतः दुष्य-पक्क भोजनो तथा रसों की लोलुपता का त्याग करना परमावश्यक है।

४--संसक्त द्रव्य सेवन--भोगी पुरुषो द्वारा उपयोग में लाये हुऐ वस्त्र, शैय्या, आसन आदि पदार्थों का त्याग करना ससक्त द्रव्य सेवन त्याग है। इन पदार्थों से मन में विकार उत्पन्न होने की संभावना रहती है तथा इनके सम्बन्ध से मन विषयों की ओर जा सकता है।

५-- इन्द्रियावलोकन--राग-भाव से अपनी तथा पर की इन्द्रियों को देखने का त्याग करना भी आवश्यक है।

६--सत्कार--रागी व्यक्तियों का सत्कार करना तथा उनके सम्पर्क में रहना महान् अनर्थ की जड है। इनके सत्कार से मन में राग बुद्धि उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती है। इनका प्रभाव मन पर अवश्य पड़ता है, अतः इनसे सदा दूर रहना चाहिये।

७--शारीरिक सस्कार--शरीर को सजाने का त्याग करना आवश्यक है। शरीर के सजाने से राग-भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता है। रागभाव ही विकारो की उत्पत्ति करता है, जिससे यह आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है।

८—अतीत स्मरण—भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना। भोगों के स्मरण से मन में विकार उत्पन्न होते है।

९—अनागताभिलाषा—आगामी काल के लिये भोगों की अभिलाषा नहीं करना तथा मन में आगे के भोगों के लिये विचार न करना।

१०—इष्टविषय सेवन—अनियन्त्रित आचरण का त्याग करना।

मोलेयु सुदमोगं बेडंगेसेये पेळ्ळांतिर्दळिलिर्दळे - ।
दोलवि भाविसि काण्बुदे नरकम ञ्धप्रातसग्नाद्रियोळ् ॥
सलिलं तन्नुडे मुट्टिलोपेंनदे पल्यकासनं स्फाटिको-
ज्ज्वलनेदागळेनिम्म कदोडेसुखं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्तन, चमकते हुए सुन्दर कमल के समान मुख का सदा स्मरण करने से, अमुक स्त्री ऐसी थी वैसी थी, इत्यादि कामुकता पूर्ण बातें करने से निश्चय ही नरक होगा। इसके विपरीत, 'पद्मासनवाला, स्फटिक मणि के समान चमकनेवाला स्वामी समुद्र के निकट डुबे हुए पर्वत में रहकर अपनी कमर पर हाथ रख कर पानी की ओर सकेत करता है" ऐसा ध्यान करनेवाला सुखी होगा ॥६६॥

विवेचन-— युवावस्था के मद से मनवाले होकर जो विषय-भोगो मे सुख मानते है, कामुकता पूर्ण बातें कहकर जो अपना मन बहलाते है, विकथाएँ करने मे जिन्हे आनन्द आता है, सयम से जो बिलकुल दूर है ऐसे प्राणियो को जीवनभर दुःख उठाना पडता है तथा मरने के पश्चात् नरक मिलता है। जिनका ध्यान अखण्ड आत्मा की ओर रहता है, संसार के विषय उनके ऊपर अपना प्रभाव नहीं डालते है। इस दुर्लभ मनुष्य शरीर को प्राप्त कर कल्याणमार्ग मे न लगाना बडी भारी मूर्खता है। आत्मा में अनन्त वीर्य—शक्ति वर्तमान है, इसका प्रादुर्भाव पुरुषार्थ के द्वारा किया जा सकता है। यह शक्ति सर्वथा आच्छादित नहीं है, केवल

सामान्य हल्का सा पर्दा पडा है, इसे हटाने मे कोई कठिनाई नहीं। यह आत्मा स्वभाव से ब्रह्मस्वरूप है, राग-भाव इसका अपना गुण नहीं है, यह पर निमित्त से उत्पन्न हुआ है। श्री आचार्य कुन्द-कुन्द ने समयसार में जो शुद्धात्मा का सामान्य और विशेष रूप से वर्णन किया है, उसका निरन्तर चिन्तन और स्मरण करने से सासारिक भोग-लालसा दूर हुए विना नहीं रह सकती। आचार्य कहते हैं—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वाणिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥
पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झभावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥

अर्थ-- जो कर्म के उदय के रस मे उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव है, वे आत्मा के स्वभाव नहीं है आत्मा प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव है। इस प्रकार समस्त कर्मजन्य भावों को पर समझना तथा अपने को ज्ञाता, द्रष्टा जानना सामान्यरूप से आत्मा की प्रतीति करना है। इस प्रकार जो अपना अनुभव करता है उसकी राग रूप परिणति कभी होती नहीं है, उसकी दृष्टि बाह्य पदार्थों की ओर जाती ही नहीं है।

निश्चयकर राग पुद्‌गल कर्म है, इस पुद्‌गल कर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न प्रत्यक्ष अनुभव गोचर राग रूप भाव यह आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव रूप है। यही ज्ञायक स्वभाव मेरा है, ब्रह्मचर्य मेरा धर्म है, विषयो की प्रवृत्ति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। यह प्रवृत्ति पर से उत्पन्न है, अतः पर का ही धर्म है। आत्मा सामान्य और विशेष दोनों ही दृष्टियों से परपदार्थों से भिन्न टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभाव रूप है। जो इस आत्मा को अच्छी तरह जान लेता है, वह परभाव को त्याग कर अपने स्वभाव में प्रवृत्त हो जाता है। कर्म के उदय से उत्पन्न रागभाव, जिसके कारण इस जीव की विषयो में प्रवृत्ति होता है, त्याज्य है।

आचार्यों ने सम्यग्दर्शन को इसलिये आवश्यक बताया है कि इसके बिना जीव अपने स्वरूप को नहीं पहचानता है। संसार के धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थो से सम्यग्दृष्टि का मोह नहीं रहता है, परद्रव्यो से मोहभाव उसे उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि चारित्र मोहनीय का उदय उसके वर्तमान है, जिससे उसके परिणामों में कभी कभी मलिनता उत्पन्न हो ही जाती है, पर यह स्थिर नहीं रहती! यह दूसरे क्षण अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है तथा शुद्धात्मा का अनुभव करने लगता है। सम्यग्दृष्टि

का सामान्य ज्ञान भी विवेक के रूप में परिणत हो जाता है, जिसमे विषय-कषाय जन्य भावो को वह पर समझता है। उसकी दृष्टि में स्त्री से राग जन्य आकर्षण नहीं रहता, असयम—इन्द्रियों की विषयो से उद्दाम प्रवृत्ति त्याज्य होती है। कामनी का मोहक रूप उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है, केवल उसका वीभत्स संसार में भ्रमण करानेवाला रूप ही दिखलायी पडता है। यह विषय-सुखों को त्याज्य समझ कर आनन्द का अनुभव करता है।

अनुभव भी बतलाता है कि जबतक मनुष्य की दृष्टि में राग-भाव रहेगा, विषयों में प्रवृत्ति अवश्य होगी। विषय प्रवृत्ति ससारी जीव का सहज विकार है, इसे दूर करने के लिये राग प्रवृत्ति का छोड़ना आवश्यक है। मनुष्य रागवश ही तो पदार्थों में इष्टानिष्ट की कल्पना करता है राग के दूर होते ही ससार के पदार्थों से ममत्व बुद्धि दूर हो जाती है।
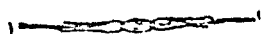
पेररं पेळ्दोडे नोवराननगे पेळ्वे कामिनीमूत्र दो-
ज्जरमेध्यं लतेयेंदु मासकुचमं हेमाब्जमेंदेंदु ने- ॥
त्तरनुंडा तुटिय सुधारुचियेनुत्तां बिळ्दुदुं सालद-
न्यरनोय्दे कविशो ? वल कपियोनां ? रत्नाकराधीश्वरा ! ६७

हे रत्नाकराधीश्वर!

यदि दूसरे को उपदेश दिया जाय तो सम्भव है वह दुःख मानले। इसलिये मै अपने लिए कहता हूँ, कामुक स्त्रियों के मल-मूत्र के प्रवाह से मिले हुए उनके शरीर को लता से, मांस से भरे हुए स्तन को सोने के कलश से तथा खून से भरे हुए ओष्ठो को अमृत तुल्य मिठास से उपमा देते हुए मै वासना मे पडा रहा। फिर भी जब इच्छा की पूर्ति न हुई तो दूसरो को भी घसीट ले गया। निश्चय ही मेरा यह पशुवत् व्यवहार है। ॥६७॥

विवेचन— इस ससार में मोह की महिमा महान् है, मोह के कारण जीव परपदार्थों को अपना समझता है। जब शरीर भी इस जीव का अपना नही है, पर है तब अन्य पदार्थों की बात ही क्या ? अन्य पदार्थ धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब आदि तो इससे बिलकुल भिन्न है। मोह के प्रबल उदय के कारण ही इस जीव को स्त्री के अगोपाङ्गों में सुन्दरता एवं सुख प्रतीत होता है। यदि स्त्री के शरीर को आच्छादित करनेवाले चमडे के पर्दे को हटा दिया जाय, तो स्त्री का शरीर अत्यन्त घृणित प्रतीत होगा, इसमें थोड़ा भी आकर्षण नही दिखलायी पड़ेगा। वास्तविक रूप

नहीं करना, मानवता नहीं पशुता है। कुशील की प्रवृत्ति पशु प्रवृत्ति है, मनुष्य का स्वाभाविक गुण शील है अतः उसे शील का सर्वदा आचरण करना चाहिये। शील ही भीतर की छुपी हुई शक्तियो का विकास करता है, यही मनुष्य को देवता बनाता है। अतः इस गुण की अवहेलना करना नितान्त अनुचित है।

जो व्यक्ति शीलव्रत का पालन करते है, उनकी पाशविक प्रवृत्तियाँ छूट जाती है तथा वे ससार, शरीर और आत्माकी वास्तविक स्थिति समझ जाते है। सम्यग्ज्ञान का उदय उनकी आत्मा में हो जाता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न हो जाने से ही आत्मिक विश्वास उन्हे हो जाता है, फिर भी कदाचित् उत्पन्न होनेवाला क्षणिक मोह जब उन्हें विचलित करता है तब वे सद्विवेक द्वारा अपने मन को स्थिर करते है। ब्रह्मचर्य या शील एक ऐसा ही गुण है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपने को समझ सकता है तथा अपना उद्धार कर सकता है।

गुरुमातापितरं पतिव्रतेयरं सम्यक्त्वसंपन्नरं।
पिरिदुं वर्णिसि पेळ्गे तीर्थककथाशृंगारसं पेळ्गेमेण् ॥
दुरितस्त्रीयर् नात्मबाह्यनरदे पेळ्वर्दिनं सज्जाद्-
तिरेयंधंगेतमि स्रोय नुडिवरे? रत्नाकराधीश्वरा! ॥६८॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

गुरु जन, माता-पिता, पतिव्रता और सम्यग्दृष्टि को ही अधिक से अधिक उपमा देकर विशेष रूप से वर्णन करना उचित है। तीर्थंकर की कथा मे आनेवाले सत् शृंगार का भी वर्णन किया जा सकता है। विषयी और आत्म तत्त्व नहीं जाननेवालों का वर्णन करके क्या लाभ होगा? स्वर्ग के समान यदि उज्ज्वल दिन हो तो अन्धे उसे रात ही कहते हैं। अज्ञानियों को उचित है कि वे पुण्य पुरुषो की कथा को छोड़ कर पापियों की कथा कभी न कहें। ॥६८॥

विवेचन— मनुष्य की भावनाओ के निर्माण में वचनों का बडा हाथ रहता है। कोई भी व्यक्ति जिस प्रकार की बात-चीत करता है, उसके मन में भी वैसी ही पवित्र या अपवित्र भावनाएँ उत्पन्न होती रहती है। गन्दे विचारवाले व्यक्ति के मन में पवित्र भावनाओं का उत्पन्न होना संभव नहीं, अतएव प्रत्येक व्यक्ति को सदा गुणवान महान् पुरुषों के चरित्रों का ही वर्णन करना आवश्यक है। त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र का वर्णन करने से आत्मा में महान् गुण उत्पन्न होते है। पुण्य पुरुषो के चरित्र का मनन, चिन्तन और अध्ययन करने से प्रत्येक व्यक्ति को अपने

के स्पर्श होने पर एक क्षण भी वहाँ ठहरने का मन नहीं होगा। मोह के प्रबल वेग के कारण ही मनुष्य के मन में विकार और वासनाओं की जागृति होती है, इसलिए वह हाड़-मांस से निर्मित गलित स्त्री के शरीर में स्नेह करता है।

आचार्योंने मनुष्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि प्रधानतः मनुष्य में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पायी जाती है—स्वाभाविक और वैभाविक। स्वाभाविक प्रवृत्तियों में प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ज्ञान की मात्रा रहती है तथा वह व्रत, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र की ओर बढ़ता है। अनात्मा की ओर ले जानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषाय तथा प्रमाद, जिनके कारण इस जीव की वैभाविक प्रवृत्ति होती है, छोड़ देता है। शरीर को केवल धर्म साधन में सहायक समझ कर उसको पुष्ट करनेवाली प्रवृत्तियों से वह दूर हट जाता है। वह संसार के यथार्थ स्वरूप को सोचता है कि इसमें कितना दुःख है, कोई किसी का नहीं। जीव अकेला ही अपने पुण्य-पाप के उदय से उत्पन्न सुख-दुःख को भोगनेवाला है। इसके कर्मों में किसी का साझा नहीं है, और न कोई किसी का सहायक ही है। भ्रमवश भले ही कोई किसी को अपना सहायक समझता रहे, पर वास्तव में इस जीव को समय आने पर, अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या, यह शरीर भी सहायता नहीं कर सकता है। जब मृत्यु आती है,

उद्धारमें बड़ी भारी सहायता मिलती है। क्योंकि सामान्य व्यक्ति की प्रवृत्ति उदाहरण सामने रखने पर ही सन्मार्ग की ओर हो सकती है। शास्त्रकारों ने विकथाओं—स्त्री कथा, राजकथा, भोजन कथा और राष्ट्रकथा की चर्चा का इसलिये निषेध किया है कि इनकी चर्चा कुमार्ग की प्रेरणा देती है। पुण्य पुरुषों के जीवन चरित्र से व्यक्ति को जीवन निर्माण में बड़ी भारी सहायता मिलती है। इनके जीवन में कैसी-कैसी कठिनाइयाँ उपस्थित हुई तथा अनेक संकटों के आने पर भी ये धार्मिक मार्ग से विचलित नहीं हुए, जीवन के अन्तिम क्षण तक भी अपने कर्त्तव्य कार्य में रत रहे, सासारिक प्रलोभन अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सके, आदि बातें महान् पुरुषों के जीवन से सीखी जा सकती हैं। इनका जीवन अनुकरणीय होता है।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्यात्माओं के चरित्र वर्णन के प्रसग में यदि शृगार का वर्णन भी आ जाता है तो भी वह शृगार व्यक्ति को त्याग की ओर ही ले जानेवाला होता है। क्योंकि महापुरुषों का अपने जीवन में शृगार की ओर आकर्षण ही नहीं रहता है, उनका शृगार भी विराग का प्रतिरूप रहता है। वह हृदय में राग भाव उत्पन्न नहीं करता, विराग उत्पन्न करता है। शृंगार केवल वस्तु के स्वरूप का निरूपण करने के

लिये निमित्त मात्र से आता है, तथा इस शृंगार द्वारा भी भोगों का बीभत्सरूप ही सामने लाया जाता है। महापुरुषों ने अपने अनुभव द्वारा इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि मानव जीवन की सार्थकता संसार के मनमोहक पदार्थों के आकर्षण को त्यागने में ही है। इन पदार्थों का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा इनमे बिल्कुल भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है। इसका उत्थान करना तथा इसकी आच्छादित शक्तियों का उद्घाटन करना ही इस मानव जीवन का ध्येय है। अनादिकाल से ससार में यह प्राणी अज्ञान और मोह के कारण भ्रमण कर रहा है।

इन्द्रिय भोग असंयमी जीव को प्रिय मालूम होते है, पर सयमी व्यक्ति को उनमें रस नहीं मिलता, आनन्द नहीं आता वे इनको देखकर उदासीन वृत्ति धारण कर लेते है। उसकी अन्तरात्मा असयमी के महत्व को अच्छी तरह जान लेती है अत इन्द्रियों पर वह नियन्त्रण करता है। महापुरुषों के जीवन की सबसे बड़ी महत्ता जो उनके आगे बढाती है, वह है विवेक और इन्द्रिय नियंत्रण की। आत्मिक दृढ़विश्वास—सम्यग्दर्शन तो पूर्णरूप से इनमें वर्तमान रहता है, जिससे इन्हे माया और मिथ्यात्व भुलावा नहीं दे सकते है। इन दोनों के कारण ही इन्द्रियों के विषय रंगीन और प्रिय लगते है, जिससे मनुष्य राग-रग, शृंगार, गीत-नृत्य,

उद्धारमें बडी भारी सहायता मिलती है। क्योंकि सामा
प्रवृत्ति उदाहरण सामने रखने पर ही सन्मार्ग को अ
है। शास्त्रकारों ने विकथाओं—स्त्री कथा, राजकथा,
और राष्ट्रकथा की चर्चा का इसलिये निषेध किया
चर्चा कुमार्ग की प्रेरणा देती है। पुण्य पुरुषों के
से व्यक्ति को जीवन निर्माण में बडी भारी सहायत
इनके जीवन में कैसी-कैसी कठिनाइयाँ उपस्थित हु
संकटों के आने पर भी ये धार्मिक मार्ग से विचलि
जीवन के अन्तिम क्षण तक भी अपने कर्त्तव्य का
सांसारिक प्रलोभन अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सके,
महान् पुरुषों के जीवन से सीखी जा सकती हैं। इन
अनुकरणीय होता है।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि
के चरित्र वर्णन के प्रसग में यदि शृंगार का वर्णन
है तो भी वह शृंगार व्यक्ति को त्याग की ओर ही
होता है। क्योंकि महापुरुषों का अपने जीवन में
आकर्षण ही नहीं रहता है, उनका शृंगार भी
रहता है। वह हृदय में राग भाव उत्पन्न नहीं
करता है। शृंगार केवल वस्तु के स्वरूप का

कवितां शक्तिये कल्पवल्लियदना सद्धर्ममेंदेब मे-
रुविननोळ्वत्ति मनोविशुद्धि वलवीर्य बुद्धिसाफल्यमा- ॥
कवियुं सवरु मुएबरा फल मनित्तल्माएदु मिथ्यात्वमा-
रत्रदोळ्वत्ति बळल्वगेयकटा ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६९॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

कविता करने की शक्ति कल्पलता के समान है। जो कवि कविता रूपी कल्पलता को सद्धर्म रूपी मेरू पर्वत की ओर प्रेरित करके मन की निर्मलता, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति तथा बुद्धि सबधी अन्य सफलताओं को प्राप्त कर लेता है उसकी लोक प्रसिद्धि हो जाती है। ऐसा न कर जो कवि अपनी शक्ति को मिथ्या-जगत तथा तत् सबधी वस्तुओं के वर्णन में लगाते है वे दु ख को ही प्राप्त होते है ॥६९॥

विवेचन--- ज्ञान की बड़ी भारी महत्ता है, ज्ञान के समान संसार में कोई भी सुखदायक नहीं है। ज्ञान के बल से ही मनुष्य निर्वाण पद को प्राप्त करता है। ज्ञान के कारण ही जीव करोड़ों जन्मों से अर्जित कर्मों को क्षण भर में त्रिगुप्तियो के द्वारा नष्ट कर देता है। तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है, यही ज्ञान साधारण पुरुषो को श्रुतरूप में मिलता है। यो तो आत्मा में ही सम्पूर्ण ज्ञान—केवल-ज्ञान की शक्ति वर्तमान है। कोई भी आत्मा अपनी असत्प्रवृत्तियों का त्याग कर, मन, वचन और काय को वश कर एव अपने स्वरूप में विचरण करने पर घातिया कर्मों

के नाश द्वारा केवल ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। परन्तु जबतक ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है, तबतक यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। वैसे तो जीव में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान, केवलज्ञान तथा कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान इन आठ ज्ञानो में से कोई दो, तीन, चार या एक ज्ञान अवश्य रहता है। इन आठ ज्ञानो में पहले के पाॅच ज्ञान सम्यक् और उत्तर-वर्ती तीन ज्ञान अज्ञान माने जाते है। किसी भी जीव में यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान, दो ज्ञान होते है तो मति और श्रुतज्ञान, तीन ज्ञान होते है तो मति, श्रुत और अवधिज्ञान या मति, श्रुत और मन पर्ययज्ञान एव चार होते है तो मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय। पाॅच ज्ञान एक जीव में एकसाथ नहीं हो सकते हैं, क्योकि केवलज्ञान कर्मो के क्षय से उत्पन्न होता है तथा शेष चार सम्यग्ज्ञान क्षयोपशम से उत्पन्न होते है।

कर्मों के क्षयोपशम से जो ज्ञान उत्पन्न होते है, उनमें तार-तम्यता देखी जाती है। सबका ज्ञान एक समान नहीं हो सकता है। जिस व्यक्ति का जितना क्षयोपशम होगा, उसका ज्ञान भी उतना ही होगा; इसी कारण विश्व के मानवों के ज्ञान में हीनाधि-कता देखी जाती है। एक व्यक्ति का जितना ज्ञान है, दूसरे का उससे ज्यादा या कम रहता है। अतः कर्मो के क्षयोपशम से

उत्पन्न ज्ञान में स्थिरता और एक रूपता नहीं रहती है। इस समय --पंचमकाल में केवली कोई हो नहीं सकता है। मनःपर्यय और अवधिज्ञान के धारियों का मिलना भी दुष्कर है। श्रुतज्ञान भी पूर्ण अब इस पंचमकाल में किसीको नहीं है, अतः ऐसी अवस्था में ज्ञानार्जन का प्रधान साधन उपलब्ध श्रुत—शास्त्र ही है। शास्त्रों के अध्ययन द्वारा ही कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान में कुछ तारतम्यता ला सकता है। लिपिबद्ध शास्त्र गद्य और पद्य दोनों में मिलते है।

गद्य से विषय का ज्ञान तो होजाता है, पर गद्य का ढग शुष्क ज्ञान निरूपण की प्रणाली है। सरस निरूपण गद्य में नहीं होता। यद्यपि कुछ काव्यात्मक गद्य लिखे जाते है, पर इनकी सख्या नगण्य है। पद्य का प्रचार भारत में प्राचीन काल से है। यों कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी कि भारत में ही नहीं, संसार के समस्त देशों में गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रचार प्राचीन काल से है। पर सभी प्रकार के पद्य काव्य नहीं हो सकते है; आत्मज्ञान के निरूपण करने की प्रणाली अथवा ज्योतिष, गणित आदि के विषय को प्रतिपादन करनेवाली प्रणाली काव्य नहीं है। काव्य के अन्तर्गत वे ही पद्य आयेंगे जो सरस ढग से विषय का निरूपण करते हों। जिनमें विषय को इतने सरल और सक्षिप्त ढंग से बतलाया गया हो, जिससे

पाठक या श्रोता आनन्द मग्न होकर विषय को हृदयगम कर सकें। कविता में ऐसी अद्भुत शक्ति होती है, जिससे वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव बिना डाले नहीं छोडती। यह किसी भी व्यक्ति का चारित्रिक, आत्मिक और बौद्धिक विकास करने में पूर्णतया समर्थ रहती है। अतः कवियों का आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे ऐसे काव्यों का निर्माण करें, जिनसे पाठक और श्रोता मिथ्यात्व, मोह, राग, द्वेष का त्याग कर सकें। वास्तविक में जिन काव्यों के अध्ययन से मुमुक्षु अपने निजानन्द रस में लीन हो सकें, वे आत्मानन्द को समझ सकें, वे ही सच्चे और अच्छे काव्य है।

वडलं रत्निसलन्यरं नुतिसिदा कुंडाटमं सर्वरोळ् ।
किडेत्रीळदाडिद लपट भ्रमणदा वंडाटमं सर्वरोळ् ॥
नुडिदेकुर्वुवरय्य पुण्यकथेयो ? अध्यात्ममो ? कोळ्गे स-
र्मडुव पाल्गडलेंदु कंडरकटा ! रत्नाकराधीश्वरा ॥७०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरो से की गई स्तुति तथा मोहवश ज्ञान के नष्ट हो जाने से स्त्रियों मे आसक्ति की भ्रान्ति कारक और लज्जापूर्ण वार्ते साथियो में कहने और सुनने से लोग क्यो आनन्दित होते है ? क्या यह कोई पुण्य कारक वस्तु है ? क्या इस मे कोई आत्मतत्त्व का विचार है ? वर्षाऋतु मे गन्दी जमीन मे मन्दरूप से पडे हुए कीचड के जल को देख-कर क्षीरसागर की कल्पना करना क्या भ्रान्ति नही है ? ॥७०॥

विवेचन— अज्ञानी मानव का मन स्वभावतः विषय-भोगों के वार्तालाप मे रस लेता है। वह शृगार और विषयासक्ति की बातों मे अघाता नहीं है। आत्म-तत्त्व का विचार उसके मन में आता ही नहीं, उसका मन उस विषयी कुत्ते के समान हो जाता है जो डण्डे खाने पर भी रोटी लेने के लालच में घर-घर मारा-मारा फिरता है। यद्यपि वह जानता है कि मुझे रोटी के स्थान पर डण्डे ही मिलेगें तथा मेरा यह कार्य भी निन्दनीय और घृणित है, फिर भी वह लाचार हो मोहान्ध के कारण घर-घर भटकता रहता है। ठीक यही बात विषयी जीवों की भी होती है, वे भी विषय-

अपनी बडाई परनिन्दा मत करै भाई,
यही चतुराई मद्य मांस को बचाव रे।
साध पट्कर्म धीर संगति में बैठ वीर,
जो है धर्मसाधन को चितचाव रे॥

अर्थ— अरे जीव मोहान्धकार को नष्ट कर, सच्चे देव, शास्त्र और गुरु को ही मन में धारण कर, सत्य बोल और सन्मार्ग पर चल, प्राणियों के प्रति क्षमाभाव धारण कर, चोरी का त्याग कर, दूसरों की स्त्रियों पर नजर मत डाल, ममता और अहंकार की कमी कर, अपनी प्रशंसा और अन्य की निन्दा का त्याग कर, मद्य, मान्स और अभ्यक्ष्य के भक्षण का त्याग कर, गृहस्थ के दैनिक पट्कर्मों का पालन कर एवं साधुओं की संगति में रह कर धर्मसाधन की ओर अपना मन लगा, इसी में तेरा कल्याण है।

वीणा किन्नरि वेणुताळ मुरजाळापदि ससिद्धिगी-
र्वाणप्राकृत वाक्यसिद्धि सुकवित्वं सुस्वरं सत्कुल ।
त्राणं श्रीचेलुवक्केयादोडमदेना लीलेगं निम्म क-
ल्याणाराधनेयक्के चित्तविसदं रत्नाकराधीश्वरा ॥७१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

वीणा, किन्नरों के वाद्य, तुरतुरा, ताल, गायन, सस्कृत और प्राकृत का ज्ञान, सरस कविता करने की शक्ति, श्रेष्ठ, राग, उत्तम कुल, बल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य और रूप की प्राप्ति का फल कुछ भी नही है अत इनका सदुपयोग मगलमय अथवा पच कल्याण की भावनाभाने मे करना चाहिये । अर्थात् इन रागमय पदार्थो का उपयोग आत्मानन्द के विकास मे करना ही कल्याण है । ॥७१॥

विवेचन--- कल्याण के मूल दो ही मार्ग है—आचार और विचार की शुद्धि । इन दोनो का प्रायः तादात्म्य सम्बन्ध है, आचार की शुद्धता से विचारों मे शुद्धता आती है और विचारो की शुद्धता से आचार में । जो व्यक्ति इन दोनो का सम्बन्ध नहीं समझते है, वे गलत मार्ग पर है । वीणा-वादन, मधुर-गायन तथा नाना प्रकार के अन्य मनोरजन के साधनों से हमारे विचार अशुद्ध होते है, रागभाव आत्मा में उत्पन्न होते है । इस कारण जीव स्वय अपनी हिसा करता है, क्योंकि राग उत्पन्न करने से आत्म परिणामो का घात होता है । असत्य भाषण, चोरी, व्यभि-

चर्चाओ में अपने समय को खो देते है। आत्मचिन्तन तथा अपने स्वरूप के चिन्तन की ओर उनका ध्यान नहीं रहता।

मोहान्ध के कारण जो व्यक्ति दिनरात स्त्रियों की चर्चाएँ या उनके अगोपाङ्गो के सौन्दर्य की चर्चाएँ किया करते है, तथा इन चर्चाओं को ही अपना कर्त्तव्य समझ लेते है वे बडेभारी गलत रास्ते के राहगीर बनते है। इन विषयो से आजतक किसीकी भी तृप्ति नहीं हो पायी है, ये तो तृष्णा और दाह को ही उत्पन्न करते हैं। इनमें आनन्द के स्थान मे आकुलता, सरसता के स्थान में नीरसता, सतोष के स्थान में तृष्णा उत्तरोत्तर बढती चली जाती है। वृद्ध हो जाने तक भोगो की दुर्दमनीय लालसा कम नहीं होती है, बल्कि असमर्थता पाकर यह लालसा और बढ जाती है। कारण स्पष्ट है कि मोह के उदय होने पर ही भोग-विलास प्रिय लगते हैं। मोह ने इस जीव को पागल बना दिया है, जिससे इसे अनिष्टकारक आत्मा की बुराई करनेवाली चीजें अच्छी प्रतीत होती हैं। भ्रान्तिवश इसे बुराई ही अच्छाई मालूम पडती है। लज्जापूर्ण, कुत्सित, निन्द्य अश्लील वचन भी कहते इसे लज्जा नहीं आती। परन्तु मोह के दूर होते ही, इस जीव को शरीर और भोगों से घृणा हो जाती है। उसके मन में वैराग्य की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती है। ससार और शरीर इन दोनों की

वास्तविकता दिखलायी पडने लगती है। शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न देखने लगता है। मोहोदय के कारण जो जीव ससार के झूठे रीति रिवाजों को सच्चा समझता रहता है, तथा वास्तविक ज्ञान करानेवाले से लडता, है, मोहोदय के दूर होते ही उसकी यह निन्दित क्रिया बन्द हो जाती है।

मोह के दूर होते ही संसार के खेल सामने प्रत्यक्षगोचर हो जाते है। मोह के रहने से ही स्त्री प्रिय लगती है, पुत्र प्यारा अनुभव होता है, माता अच्छी दिखलायी पडती है, बन्धु स्नेहशाल प्रतीत होता है; परन्तु मोह के क्षय या क्षयोपशम होते ही ये सारे रागभाव दूर हो जाते है। हृदय में वैराग्य भाव जाग्रत हो जाता है। इन्द्रियो के प्रिय लगनेवाले पदार्थ अब अत्यन्त अप्रिय मालूम होते है। कर्त्तव्य मार्ग का उसे अपने आप भान हो जाता है। कविवर भूधरदास जी ने बताया है कि मोहोदय के रहने पर ही जीव को अकर्त्तव्य मार्ग सूझता है, मोह के क्षय होते ही उसे कर्त्तव्य मार्ग दिखलायी पडने लगता है।

देव गुरु सांचे मान सांचो धर्म हिये आन,
सांचो हि पुरान सुनि सांचे पन्थ आव रे।
जीवन की दया पाल झूठ तज चोरी टाल,
देखना विरानी बाल तिसना घटावरे॥

चार, अत्याचार, अनाचार, परिग्रह-संचय सभी आत्मा के घातक होने से हिंसा के साधन हैं। जिन व्यक्तियोंने अपने जीवन का ध्येय केवल आमोद-प्रमोद करना ही मान लिया है, उनके विचार अत्यन्त निम्न कोटि के है। क्योंकि यह जीव अनादिकाल से विषय-कषायों में संलग्न चला आरहा है, इसने चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया, नाना प्रकार के ऐश्वर्य भी इसे मिले, पर संसार के भोगों से तृप्ति नहीं हुई। अब इस श्रेष्ठ मानव जन्म को भी अपने ही स्वार्थ में लिप्त रखकर यों ही बिता देना बडी भारी मूर्खता है।

नरभव की सार्थकता राग-रंगों को पाकर भी इनसे अनासक्त रहने में है। यदि कोई भी व्यक्ति संसार के कर्मों को फलकांक्षा से अलग रह कर अनासक्त भाव से कर्त्तव्य समझ कर करता है, तो वह कल्याण का मार्ग पा ही लेता है। श्रद्धापूर्वक अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार निवृत्ति मार्ग की ओर जाना, संसार के चमकीले-भडकीले परपदार्थों से पृथक् रहने की चेष्टा करना ही कल्याण है। अतः जिन व्यक्तियों के विचार शुद्ध है, जिनके विचारों में किसी भी प्रकार की कलुषता नहीं, जिनकी प्रवृत्ति राग-द्वेष से परे रहती है, वे अपने आचरण को उन्नत बना ही लेते हैं। वास्तविक बात यह है कि उनकी दृष्टि विशाल हो जाती है, स्वार्थ की संकुचित सीमा टूट जाती है, जिससे परपदार्थों के प्रति व्यग्रता उनकी

नहीं होती है; क्योंकि परपदार्थ आकुलता या दु:ख-सुख के कारण नहीं, यह तो केवल व्यक्ति की दृष्टि का दोष है।

विषयों की आधीनता आत्मा के लिये कभी भी कल्याणकारी नहीं हो सकती। पञ्चेन्द्रियों के मोहक विषय आत्मा को पराधीन करने वाले हैं। जिस व्यक्ति ने अपनी कमजोरी के कारण अपने को इन विषयों के सुपुर्द कर दिया है, वह आज नहीं तो कल, कभी न कभी इनकी हेयता को समझे बिना नहीं रह सकता। अनियन्त्रित विषय सेवन से शान्ति, कान्ति, स्मृति, मेधा, ज्ञान आदि गुण नष्ट हो जाते हैं। विषयों का वेग सर्वप्रथम व्यक्ति के स्वास्थ्य को नष्ट करता है, क्योंकि विषयी जीव आचार और विचार दोनों की पवित्रता से च्युत हो जाता है। इसलिये वह मनमाने अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करता है, दुर्दमनीय इन्द्रियों की प्रवृत्ति को विषयों से हटाता नहीं, बल्कि विषयों में लगाता रहता है। इस कारण उसका शरीर खोखला हो जाता है, दिनरात रोग उसे घेरे रहते हैं। एक क्षण को भी उसे शान्ति नहीं मिलती। सुख के बदले उसे दु:ख ही उठाना पड़ता है।

स्मृति और मेधा शक्तियाँ भी विषयी जीव की नष्ट हो जाती हैं। उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, विवेक या सद्‌विचार उत्पन्न नहीं होते। दिनरात मन विषयों की ओर दौड़ता रहता है, शरीर

अशक्त रहता है जिससे वह विषयों को भोग नहीं सकता, पर मानसिक व्यभिचार निरन्तर करता रहता है। वह इतना मानसिक दृष्टि से कमजोर हो जाता है कि बार-बार विषयों के त्यागने का संकल्प करने पर भी नहीं छोड पाता है। उसके सकल्प कच्चे धागे से भी कमजोर होते है। स्मरण शक्ति भी उसकी लुप्त हो जाती है, वह अपनी की हुई समस्त प्रतिज्ञाओं को भूल जाता है। कान्ति, ओज आदि भी शरीर मे नहीं रहते, वह रस निकाले हुए नीबू के समान प्रतीत होता है। आचार और विचार दोनो से वचित होकर विषयी जीव अपनी समस्त शान्ति को खो बैठता है। अत प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक है कि वह रागमय पदार्थों को अनासक्त भाव से छोड कर आत्मानन्द में विचरण करे।
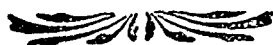
एतक्काडुवरय्य हम्मनकटा ! तम्मल्लि विद्याकळा-
व्रातं तळ्तदना कवित्वसुसिगुं सुज्ञानमं तत्पर-
ज्योतिर्व्यक्तियुक्तिये नुडिगुमिन्नंतल्लदल्लल्लि य-
द्वातद्वा वहुभायि फलवदे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥७२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मनुष्य अहंकार की बात क्यो करता है ? उसमें विद्या शिल्पादि का भरा हुआ गुण-समूह उसकी रचना से प्रकट होता ही है। भगवान के तेज तथा चमत्कारमय स्वरूप का ही स्थान स्थान पर वर्णन होना चाहिए। ऐसा न कर, वेकार की गटपट बाते करने से कुछ लाभ नही होगा। ॥७२॥

विवेचन--- सम्यग्दृष्टि जीव के लिये संसार में आत्म-विश्वास के समान कोई भी उपकारी नहीं है। जिसे अपनी आत्मा की शक्ति का दृढ़ विश्वास नहीं वह कोई भी कार्य सफलता पूर्वक नहीं कर सकता है। आत्मविश्वास उत्पन्न करने में प्रधान कारण आत्म निर्मलता है, जब तक आत्मा में निर्मलभाव उत्पन्न नहीं होते है, यह नाना संकटों की पात्र बनी रहती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार का पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है जिससे आत्मा निर्मल बनायी जा सके। आत्मा निर्मल बनती है, बाधक कषाय परिणामों को दूर करने पर। जब तक आत्मा में कषाय परिणति लगी रहती है, आत्मा स्वच्छ या निर्मल नहीं होती ।

आत्मा को निर्मल करने के लिये अन्तरग और बहिरंग दोनों ही प्रकार की शुद्धियों की आवश्यकता है। अन्तरग शुद्धि तभी हो सकती है, जब कालुष्य उत्पन्न करनेवाले कषाय आत्मा से हट जायँ। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप ये चारों ही कषायें आत्मा के लिये मलिनता का कारण हैं। साधारणतः इन कषायों की उत्पत्ति निमित्त कारणों के मिलने पर ही होती है। क्रोध का निमित्त मिलते ही क्रोध उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति विपरीत कार्य करता दिखलायी देता है, क्रोध उमड आता है, घमंड करने के पदार्थों को प्राप्त कर अहंकार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार बाह्य निमित्त को पाकर माया और लोभ कषाय की भी उत्पत्ति होती है।

यदि कषायों की भीतर तह में प्रवेश किया जाय तो अवगत होगा कि बाह्य निमित्तों के बिना भी कषायें अन्तरग में उत्पन्न होती रहती है। मन में चचलता प्रधान रूप से अन्तरंग कषायों की तीव्रता के कारण ही होती है, यदि अन्तरग में कषायों की कमी हो जाय तो मन में स्थिरता आजाती है। क्योंकि कषायों का निरोध होने से मन, वचन और काय योग का निरोध किया जा सकता है। कषायों के निकलते ही योग की चचलता रुक जाती है। कषायों के रहने पर कोई निर्जन बन में रहे चाहे गगन चुम्बी प्रासाद में,

सब समान है । इनके अभाव से ही आत्मकल्याण या जगकल्याण किया जा सकता है । क्रोधी जीव ने आजतक किसका कल्याण किया है ? जिसने अपनी आत्मा में क्षमाभाव को उत्पन्न कर लिया, सहनशीलता अपने भीतर उतार ली है, वही अपना या संसार का भला कर सकता है । क्रोध से काम बिगड़ ही सकता है बनता नहीं । इसी प्रकार मान, माया और लोभ के बारे में भी है । जिस प्रकार कपड़े को पक्का नीला रंगवा देने पर उसपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार कषायो द्वारा आत्मा के अनुरंजित होने पर आत्मा में निर्मलता नहीं आती, शुद्धात्मानुभूति नहीं होती । कषायें आत्मा के ज्ञान, दर्शन, नम्रता आदि गुणों को विकृत कर देती है ।

'यों तो मानव अनादिकाल से कषायों के आधीन है, पर अहंकार द्वारा यह अन्यकी अवहेलना और अपना उत्कर्ष साधने में सदा मस्त रहता है । प्रतिष्ठा लिप्सा या कीर्तिकामना मनुष्य में इतनी अधिक है जिसके कारण अपनी आत्म-प्रशंसा स्वयं यह करता है और दूसरों की निन्दा भी । यह निन्दा और स्तुति की लालसा जीव को बड़ा बनने के बदले तुच्छ या छोटा बनाती है । अहंकार मनुष्य की आत्मा में कठोरता उत्पन्न करता है, उसके विनय गुण को नष्ट कर देता है । अभिमान या अहंकार किसी

भी व्यक्ति को नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिन विद्या, बुद्धि, बल, धन, जाति आदि का अभिमान करता है, वे स्थिर रहनेवाली नहीं। संसार में जब स्वर्गलोक का महर्द्धिधारी देव भी मरकर एक समय में एकेन्द्रिय हो सकता है, शूकर-कूकर में जन्म ले सकता है तब अभिमान किस बात पर किया जाय ? जिनकी सहस्रों स्त्री-पुरुष सेवा में हाथ जोड़े खड़े रहते थे, पुण्य क्षीण होने पर उनको कोई पानी पिलानेवाला भी नहीं रहता। अतः इस चचल लक्ष्मी और अन्य संसारी वस्तुओं का, जो कि सदा क्षणिक है, अभिमान करना व्यर्थ है। अभिमान लौकिक दृष्टि से भी इस जीव के लिये हानिकर है, क्योंकि अभिमान करने से मित्र भी शत्रु हो जाते है तथा अनेक कार्य जो केवल नम्रता और मीठे वचनों से अच्छी तरह सम्पन्न किये जा सकते हैं, बिगड जाते है अतः अहकार सर्वथा त्याज्य है।

तर्कं बंदडे दृष्टदि श्रुतदिनिट्टहानुमानंगळिं ।
वेर्कयूदात्मननेल्लरु नेरेये कडंतागे यास्थान पा- ।।
लकोंडाडे कुवादियुं तिळियै पेळल्वल्लने बोधमा- ।
लार्के शुष्कविवादि तानधिकने ? रत्नाकराधीश्वरा ! ।।७३।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

तर्कशास्त्र का ज्ञान हो तो प्रत्यक्ष प्रमाण, तर्क प्रमाण और अनुमान-प्रमाण से आत्मा को स्थापित करके तथा समूचे जगत पर उसका प्रभाव डाल कर, सब से देखे जाने योग्य, राजाओं से प्रशंसा करने योग्य तथा दुष्ट वादि के जानने योग्य जो ज्ञान परम्परा समझाकर दी जाती है उसी से प्रकाश की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत निःसार विषयों पर वाक्-विवाद करनेवाला कदापि श्रेष्ठ नहीं है। "आत्मा को अन्य वस्तुओं से पृथक् मान कर सज्जन लोग आनन्दित होते हैं" इस कथन को समझने वाले ही ज्ञान सूर्य कहलाते हैं; मिथ्यावादी श्रेष्ठ नही है ।।७३।।

विवेचन--- यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, अनुमान और तर्क के द्वारा सिद्ध है। जो व्यक्ति शरीर से भिन्न आत्मा नहीं मानते, तथा जिनका यह मत है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के समवाय से चैतन्य शक्ति आजाती है। इन चार प्रत्यक्षगोचर भूतों के समवाय से भिन्न आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है; जिसकी शुद्धि की जाय और आचार-विचार को शुद्ध किया जाय। शरीर को कष्ट देना, मन और इन्द्रियों का निग्रह करना व्यर्थ है। इस-

युक्ति का खण्डन अनेक प्रमाणों से किया जा सकता है। क्योंकि आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। मनुष्य जब किसी पदार्थ को देखता है उस पदार्थ का एक सामान्य आकार उसके मस्तिष्क में बन जाता है, जिससे पदार्थ की ओर ध्यान जाते ही दिखलाई देने लगता है। यदि व्यक्ति सामने रखे हुए पदार्थ को बिना उपयोग के देखता भी रहे तो भी उसका दर्शन नहीं होगा और उसका अस्तित्व उसे दिखलायी नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार सुनने, छूने और सूंघने के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। मनुष्य प्रति दिन नाना शब्दों को सुनता है, पर जिन शब्दों की ओर उसका ध्यान नहीं रहता उन शब्दों को सुनते हुए भी नहीं सुनता है। प्रतिदिन नाना वस्तुओं का स्पर्श मनुष्य करता है, पर जिन वस्तुओं के स्पर्श की ओर उसका ध्यान नहीं स्पर्श करते हुए उसके स्पर्श ज्ञान से अनभिज्ञ रहता है।

मनुष्य की इन प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि भौतिक पदार्थों से भिन्न कोई ऐसी शक्ति है जिसके उपयोग से ही मानव को पदार्थों का ज्ञान होता है। यह जानने और देखने की शक्ति भौतिक पदार्थों से निर्मित मस्तिष्क में नहीं, किन्तु अनुभव करनेवाला एक स्वतन्त्र पदार्थ है। जब मनुष्य के सामने कोई बात आती है तो वह उसपर विचार करता

है; उस बात की लाभ हानि एवं गुण-दोषों पर ध्यान देता है। यह ध्यान देने की शक्ति भौतिक शरीर के अश मस्तिष्क से भिन्न है। अनुभव की शक्ति कहलाती है, अतः यह अखण्ड आत्म-तत्त्व के सिवा और कुछ नहीं है अगर आत्मा को भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न मानाजाय तो अनेक दोष आते हैं। पहली बात तो यह है कि सजातीय से विजातीय की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः भूत समवाय से उत्पन्न आत्मा नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि भूत समवाय से उत्पन्न आत्मा को माना जाय तो फिर स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि आत्मा में कहाँ से आ सकेंगे? ये भौतिक शरीर के अंश तो हो नहीं सकते है क्योंकि भौतिक शरीर में ऐसी योग्यत नहीं।

संकल्प, इच्छाशक्ति ,काम-क्रोध आदि की भवनाएँ भी चैतन्य आत्म-शक्ति के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती है। ये सभी शरीर के कार्य नहीं हो सकते है, क्योंकि जड़ शरीर इन सब कार्यों को करने में असमर्थ है इसी प्रकार राग-द्वेष आदि की भावनाएँ, शान्ति, धृति आदि भी चेतन आत्मा के ही स्वभाव या विभाव जन्य धर्म कहे जा सकते हैं। स्वानुभव प्रत्यक्ष के द्वारा भी आत्मा की प्रतीति निरन्तर होती ही रहती है। 'मै' या 'अहं' की अनुभूति प्रत्येक कार्य में सवदा होतो है। अतः समस्त पदार्थों का ज्ञाता-

द्रष्टा आत्मा स्वतन्त्र और सब पदार्थों से भिन्न है। यह स्वभाव से ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वरूप है। यह नित्य और अविनाशी है। ससार अवस्था मे यह अशुद्ध हो रहा है, अनादिकालीन राग-द्वेष के कारण इसकी परिणति बिगड़ी हुई है। पर प्रयत्न करने पर इसकी शुद्ध प्रवृत्ति की जा सकती है तथा यही हमारा पुरुषार्थ होना चाहिये जिससे आत्मा शुद्ध की जा सके।

शास्त्रं बंदोडे शांति सैरने निगर्व नीतिमेल्वातु सु-
क्तिश्रीचिंते निजात्मचिंते निलवेकृकतंळदा शास्त्रदिं।
दुस्त्रीचितने दुमुर्खं कलहमुं गर्वं मनंगोंडडा।
शास्त्रं शस्त्रमे शास्त्रि शस्त्रिकनला ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥७४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर शान्ति और सहिष्णुता को धारण करना, अहंकार से रहित होना, धार्मिक बनना, मृदु बातें करना, मोक्षचिन्ता तथा स्वात्म-चिन्ता में निरत रहना श्रेष्ठ कर्त्तव्य है। इसके विपरीत, शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर स्त्रियों की चिन्ता; क्रोध, मान, माया आदि से विकसित स्पर्धा और अहंकार के उपयोग से शास्त्र शस्त्र बन जाते हैं और शास्त्रज्ञ भी शस्त्रधारी हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शास्त्र-ज्ञान का उपयोग आत्महित के लिये करना चाहिये। ॥७४॥

विवेचन— पढ़ने-लिखने तथा शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र ध्येय कषायों को जीतना, इन्द्रियों को वश करना, सहिष्णुता धारण करना, विपत्तियों में धैर्य रखना, शक्त्यानुसार परोपकार करना, मीठे और कोमल वचन बोलना, हिंसा, झूठ, चोरी; कुशील और परिग्रह का त्याग करना है। जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर अपना कल्याण नहीं करता है, विषयों के आधीन रहता है, उसे धिक्कार है। ऐसे व्यक्ति का ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान नहीं कहलाता, बल्कि शस्त्र ज्ञान कहाता है। जैसे शस्त्र का उपयोग किसी वस्तु

प्राप्त कर सकता है। नीतिकारों ने आशा का वर्णन करते हुए कहा है कि—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला।
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी॥
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोतुंग चिन्तातटी।
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।

अर्थ-- आशा एक नदी है, इसमें इच्छारूपी जल है, तृष्णा इस नदी की तरगें है, प्रीति इसके नगर है। तर्क-वितर्क या दलीलें इसके पक्षी हैं, मोह इसकी भँवर हैं, चिन्ता ही इसके किनारे है, यह आशा नदी धैर्यरूपी वृक्ष को गिरानेवाली है, इस कारण इससे पार होना बडा कठिन है। जो शुद्ध चित्त योगी, मुनि इसके पार चले जाते हैं, वे बडा आनन्द प्राप्त करते है। तात्पर्य यह है कि आशा के चक्कर में आकर मनुष्य आकुलता और दुःख के सिवा और कुछ नहीं पा सकता है। आशा और आकाक्षाएं निरन्तर वृद्धिगत होती जाती है जिससे मनुष्य को दुःख का ही साक्षात्कार करना पड़ता है।

परिग्रह को सचित करने को लालसाएं पाप का प्रधान कारण है। विश्व के समस्त वैभव के मिलने पर भी ये लालसाएँ शान्त

होने की नहीं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील ये चारों पाप परिग्रह में निवास करते हैं। जहाँ परिग्रह है वहाँ हिंसा के प्रधान कारण राग-द्वेष अवश्य होते हैं, आत्मा में निरन्तर आकुलता व्याप्त रहती है जिससे एक घड़ी को भी शान्ति नहीं मिलती। परिग्रह संचय करने के लिये द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार की हिंसाएँ करनी पडती है। धन के ममत्व में आकर अगणित जीवों को कष्ट देना पडता है, अधिक ममत्व रहने से बेईमानी करनी और झूठ वचन भी बोलने पडते हैं। धन की रक्षा के लिये नाना साधनों का प्रयोग करना पडता है, जिससे हिंसा अवश्यम्भावी है। परिग्रह में अधिक लालसा रहने पर अनुचित उपायों से धनार्जन करना पडता है तथा दूसरों से प्रतिस्पर्धा भी करनी पडती है जिससे अनेक शत्रु बनते है अनेक मित्र बनते है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति अहर्निश बढ़ती जाती है।

अधिक परिग्रह का संचय करना और उस के द्वारा सुख प्राप्ति करने की अभिलाषा रखना इस प्रकार व्यर्थ है जैसे पानी के विलोड़ने से घी प्राप्ति की आशा करना। पानी को मथने से पानी भी बेकार हो जाता है और घी तो क्या छाछ भी नहीं मिलती है, उसी प्रकार परिग्रह संचय से सुख नहीं मिल सकता है, बाह्य परिग्रह की अपेक्षा अन्तरंग मुर्च्छा—परिग्रह का ममत्व विशेष हानिकर है,

इसमे जीव को सदा आकुलता बनी रहती है। भौतिक पदार्थों से ममत्व रखना, विपत्तियों की खान है, मुसीबत, कठिनाइयों और आपदाओं का आगार है। धन के ममत्व के कारण ही भाई भाई के प्राणो का ग्राहक बन जाता है, नीच से नीच कृत्य को भी कर डालता है। परिग्रह-लिप्सा के कारण आज जो ससार की दशा हो रही है, वह किसीसे छुपी नहीं, बडे प्रभावशाली, समझदार व्यक्ति भी परिग्रह की मूर्च्छा में फंस जाते है और नाना प्रकार के अत्याचार एव अनाचार करने लगते हैं। जहाँ परिग्रह सचय की मूर्च्छा है, वहाँ ससार का कारणीभूत कर्मबन्ध अवश्य होता है। क्योंकि परिग्रह के सद्भाव में नियम से बन्ध होता है। आत्मा का हित परिग्रह की व्यग्रता दूर करने पर ही हो सकता है, परिग्रह के रहते हुए कल्याण सभव नहीं। अतः विनाशीक धन, वैभव की लालसा कर अपने मनुष्य जीवन को बिगाड़ना ठीक नहीं।

पडेयोळ्बल्लिदनादोडा पडेयिन्नं पापारियं गेल्वने ? ।
कडुपिंदं जवनं तेरळ्चुवने ? बलिप मोक्षमं कोंवने ? ॥
कडेगा भूपन शक्ति नाल्गळिगे सल्गुं मर्त्य कीटंगळोळ् ।
बिडु योगीद्रन शक्तिगावुदु समं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥७६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

यदि किसी राजा के पास अधिक सेना हो तो क्या वह अपने सैन्य-बल से पापरूपी शत्रु को जीत सकेगा ? अपने पराक्रम से यमराज को भगादेनेवाली शक्ति प्राप्त कर क्या राजा मुक्ति को वश कर सकेगा ? अत में राजा की शक्ति मनुष्य योनि मे चार घडी रहकर फल दायक होती है ? यह, इसलिए त्याज्यनीय है। योगीश्वर की शक्ति की समानता कौन दूसरी शक्ति कर सकती है ? ॥७६॥

विवेचन--- मनुष्य गति में सबसे अधिक सम्पत्ति और ऐश्वर्य राजा के पास होता है। लौकिक सभी अभीष्ट पदार्थ उसके पास रहते है। सेना, बल, पराक्रम आदि के कारण उसकी आज्ञा भी सब कोई मानते है, वह अपने सैन्यबल से दुष्टों को दण्ड देता है, शासन व्यवस्था स्थापित करता है। धन-जन की भी उसको कमी नहीं रहती, फिरभी कर्म-शत्रु को जीतने में असमर्थ है। वह इन्द्रियों का दास बना रहता है, जीवन भर इन्द्रियजन्य भोगो को भोगता रहता है। वह अपनी प्रभुता के दर्प के कारण कभी आत्मा पर विचार भी नहीं करता और न लोक-परलोक के सम्बन्ध में विचार करता

है। निरन्तर उसकी प्रवृत्ति विषयभोगों की ओर रहती है तथा अपना वैभव और ऐश्वर्य बढ़ाकर अपना नाम अमर करना चाहता है, किन्तु अपने कल्याण के सम्बन्ध में तथा अपने कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में कभी नहीं विचार करता है। राजा के समान ही आजकल ऐश्वर्य में मदोन्मत्त हो अधिकांश संसारी जीव भी अपने कर्त्तव्य को नहीं सोचते, इसी कारण उनका निरन्तर जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।

राजा यदि अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहे तो थोड़े समय तक ही अपनी करामात दिखला सकेगा तथा उसकी यह ऐश्वर्य और विभूतियों से उत्पन्न हुई शक्ति भी केवल भौतिक ही होगी, आध्यात्मिक नहीं। वह अपने पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय को भोगता है, पर वर्त्तमान जीवन में पाप कर्म ही करता रहता है, जिससे उसका पापानुबन्धी पुण्य कर्मसन्तति को ही बढ़ानेवाला होता है। अतएव राजा के समान प्रत्येक विषय-वासना के वशीभूत धनी-मानी व्यक्ति को संसार की अनित्यता का विचार कर ज्ञानार्जन करना चाहिये। जो धन, सम्पत्ति पूर्व पुण्योदय से प्राप्त हुई है, वह एक क्षण में ही पाप का उदय आने पर विलीन हो सकती है। नाना प्रयत्न करने पर भी इस चंचल धन को कोई भी स्थिर नहीं रख सकता है, इसे पाकर झूठा गर्व करना और इसे अपना समझना

बडी भारी मूर्खता है। चचल लक्ष्मी किसके यहाँ स्थिर रही है। चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, आदि वडे बडे लक्ष्मीवान् थे, जिनके पास वसुन्धरा की अविनाशी विभूति संचित थी। नव निधियाँ और अष्ट सिद्धियाँ- जिनके चरणों में लोटती थी, जिनके पास देवलोग सेवा में हाथ जोडे खड़े रहते थे; वे भी मृत्यु के मुख में गये। आयु कर्म के पूर्ण होने पर वे भी एक क्षण यहाँ नहीं रह सके। उनकी सम्पत्ति भी स्थिर नहीं रह सकी, तब सामान्य व्यक्तियों की बात ही क्या? अतः भौतिक साधनों से उत्पन्न शक्ति विशेष कार्यकारी नहीं होती है तथा इससे न कोई लौकिक कार्य ही किया जा सकता है। आत्मा की अचिन्त्य और अद्भुत शक्तियों का विकास इन भौतिक साधनों से नहीं हो सकता है।

योग के कारण आत्मा की शक्तियों का विकास होता है। इन्द्रिय और मन का निग्रह होने के कारण आत्मा की छुपी हुई शक्तियों का आविर्भाव हो जाता है। आत्मा का चिन्तन भी योगी सरलता से कर सकता है, वह अपने प्रयत्न द्वारा मन, वचन और काय की असत् प्रवृत्तियो को तो रोक ही देता है, पर सत् प्रवृत्तियो पर भी उसका नियन्त्रण हो जाता है। योग को दूषित करनेवाली कषाय, प्रमाद और अविरति की प्रवृत्ति भी रुक जाती है। इन्द्रियों की दासता समाप्त हो जाती है स्पर्शन और रसना इन्द्रिय पर उसका

पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। रसना इन्द्रिय का निग्रह होने से शरीर भी योगी का पूर्ण स्वस्थ रहता है तथा संयम में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती है। जिह्वा लम्पटता के दूर हो जाने से आत्मा की छुपी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। आचार विषयक पूर्ण शुद्धि के हो जाने से योगी पूर्ण अहिंसक हो जाता है, जिससे उसकी आत्मा में ऐसी अद्भुत शक्तियाँ आजाती है जिनके कारण हिंसक जीव सिंह आदि भी अपनी क्रूरता को छोड कर सरल बन जाते है। विरोधी नकुल और सर्प अपनी विरोधवृत्ति को छोड देते है। अतः जितेन्द्रिय व्यक्ति की शक्ति की तुलना किसी भी भौतिक सम्पत्ति के स्वामी से नहीं की जा सकती है।

तम्मं कीर्तिसे नल्मेयोल्मे कडुचागं कूडे सभापरा।
निम्मं कीर्तिस लड्डमोरे बडचागं मौनमी भूमिपर्॥
तम्मं कोल्व नरेंद्रंन पोगल्ळलळ्किंमन्निपर् निम्मळे-
हम्मं तोर्परो कावनोल् कलहवे ? रत्नाकराधीश्वरा !॥७७॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

स्तुति करने से राजाओं में प्रेम, दया, अधिक दान देने, सत्य बोलने आदि के भाव उत्पन्न होते हैं। दूसरों की स्तुति करने से मुह बनाना, अल्प दान देना, तथा मौन रहने के भाव उत्पन्न होते हैं। राजा लोग शत्रु राजाओं की स्तुति सुनकर भय से क्षमा करते हैं। इन बातों से इनके अहकार का पता लगता है। राजा लोग दूसरों के रक्षक हैं। पर न मालूम ये आपस में किस लिये झगडते हैं ? ॥७७॥

विवेचन— मनुष्य का कुछ ऐसा स्वभाव है, जिससे वह अपनी प्रशंसा और स्तुति सुन कर प्रसन्न होता है। यह प्रवृत्ति रक से लेकर राजा तक मे हम पाते हैं, राजा लोग भी अपनी स्तुति और गुणगान करनेवाले को प्रसन्न हो कर अधिक धन देते हैं। याचक को मनमाना धन देकर कृतार्थ कर देते है। पर जो उनकी प्रशंसा नहीं करता है, गुणगान नहीं करता है उसे अल्प धन देते हैं या बिल्कुल नहीं देते। ऐसे पर प्रशंसक व्यक्ति से भी नाराज हो जाते है, जिससे उसकी अभिलाषा को धन द्वारा पूर्ण नहीं करते। क्योंकि मनुष्यमात्र का यह स्वभाव होता है कि उसे जितनी अपनी

प्रशसा और स्तुति प्रिय होती है, उतनी अन्य व्यक्ति की नहीं। इस कारण वह अन्य व्यक्ति की प्रशसा से प्रसन्न नहीं होता। लौकिक कार्य जिस व्यक्ति से कराना है, उसकी प्रशंसा या स्तुति करनी ही पडती है। यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से उस व्यक्ति की यह क्रिया नितान्त गर्हित है, क्योंकि निन्दा और स्तुति दोनों ही उसके लिये समान होनी चाहिये। यह तो व्यक्ति की कमजोरी है, जो अपनी स्तुति और प्रशसा को सुनकर प्रसन्न होता है और अन्य की प्रशंसा को सुन कर असतुष्ट। जिसकी आत्मा में शक्ति उद्‌बुद्ध हो जाती है, उसका यह सकुचित दायरा नहीं रहता है। उसे गुणी मनुष्य क गुण प्रिय होते है, गुणी की प्रशसा सुनकर उसे मन में हर्ष होता है। परन्तु राजा-महाराजाओ की प्रकृति यही होती है कि वे अपनी स्तुति और गुणगान से ही प्रसन्न होते हैं।

शत्रु राजाओ की प्रशसा और कीर्ति को सुनकर उनके मन में ईर्ष्या बुद्धि उत्पन्न होती है। वे उनके गुणों को सहन करने म असमर्थ होते है, इसी कारण उनमें अहर्निश परस्पर सघर्ष होता रहता है, वे लड़-झगड कर अपनी शक्ति को नष्ट करते हैं। अत राज्य के प्राप्त होने पर भी आत्मिक शान्ति नहीं मिल सकती है। इसके लिये उदार और विशाल हृदय बनना पडेगा। जो व्यक्ति चाहे वह राजा हो या रंक, संकीर्ण विचार का है, उसे रातदिन सघर्ष करना

हो पडता है । वह मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाओं की पूर्त्ति के लिये नाना प्रकार के कष्ट सहता है। संकीर्ण और संकुचित सीमा के भीतर बंधकर उसे मानसिक अशान्ति सहन करनी पड़ती है। अतः प्रत्येक को उदार और सहनशील बनना चाहिये। इस मनुष्य जीवन को पाकर जो व्यक्ति निन्दा और स्तुति में समता नहीं रख सकता है तथा जिसने अपनी प्रवृत्तियों को अहिंसक नहीं बनाया है, उसका इस जीवन का पाना ही निरर्थक है। जिस व्यक्ति को अपनी आत्मा की शुद्धि करनी है, उसे अपनी आलोचना अवश्य करनी चाहिये। अन्य व्यक्ति की गलती देखना आसान बात है, क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्ति छिद्रान्वेषण की होती है, वह दूसरों की त्रुटियाँ देखता है, अपनी नहीं। यदि अपनी त्रुटियों पर ध्यान पहुँच जाय तो फिर कल्याण होने में विलम्ब न लगे।

आत्म-आलोचना के समान उपकारी कोई व्रत नहीं है। आलोचक अपनी कमियों को दूर करने का प्रयत्न करता रहता है। इसी कारण अन्य द्वारा सच्ची भावना से की गयी आलोचना कल्याण मार्ग में बढानेवाली ही होती है। अतः आलोचक को सदा अपना मित्र समझना चाहिये। जिन व्यक्तियों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की भावनाएँ पूर्णतया या आंशिकतया आ जाती है, वे अपनी आलोचना स्वयं भी करते है तथा

अन्य द्वारा की गई अपनी आलोचना को भी धैर्य पूर्वक सुनते है। अतः मोक्षमार्ग का अनुसरण करने के लिये अपने दुर्गुणों तथा अन्य के गुणों को प्रकट करना चाहिये। संसार के समस्त प्राणियों के प्रति मित्रता की भावना रखनी चाहिये, जो व्यक्ति गुणवान है, उनके गुणों को देखकर मन में आह्लादित होना चाहिये। जो विपरीत वृत्तिवाले है, लाख समझाने पर भा जो कुमार्ग को नहीं छोडते है, उनसे मध्यस्थभाव रखना चाहिये। सुख-दुःख में समान वृत्ति मनुष्य को होना चाहिये, ससार के मोह-माया से जो तटस्थ है वह व्यक्ति घर में रहता हुआ भी साधु के तुल्य है विचार अहिंसक होने के साथ क्रिया और व्यवहार में भी अहिंसा को स्थान देना चाहिये। सर्वदा इस बात का ध्यान रखना कि अपने किसी भो व्यवहार से किसी के मन को दुःख न हो, मोक्षमाग की प्राप्ति में बड़ा हायक है।
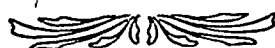
आरिदाददो राजलक्ष्मियदु निम्मिदाददुदेतेदोडा-
चारं मुन्नणुमात्रमिर्दं फलदिंदा जीवकी जन्मदोळ् ॥
सेरित्ता चरणक्के नीने पति निन्न मग्दवं कष्ट सं-
साराभोधिय दाटलेनरिवने ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥७८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पूर्व जन्म मे किए हुए पुण्याचरण से इस जन्म मे राजसम्पत्ति की प्राप्ति होती । पूर्व मे किए हुए व्रताचरण की मात्रा स्वल्प भी हो, फिर भी उसी की वजह से जीवात्मा को इस जन्म में राजसम्पत्ति मिलती है। उसी व्रताचरण का जीव आप ही प्रभु हो गया । क्या जीव दु:खमय संसाररूपी समुद्र को पार करने का उपाय समझेगा ? ॥७८॥

विवेचन—— जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का फल प्रत्येक व्यक्ति को भोगना पडता है। प्रधानतः कर्म दो प्रकार के है पुण्य कर्म और पाप कर्म। पुण्य कर्म के उदय से व्यक्ति को नाना प्रकार की सुख सामिग्री मिलती है और पाप कर्मों के उदय से दुःख सामिग्री। राज्य-विभूति भी पूर्व जन्म के पुण्य से ही मिलती है, जो बडा भारी पुण्य करते है, कर्मों की निर्जरा करते है तथा सदाचरण द्वारा निरन्तर पुण्यार्जन करते रहते है, अगले जन्म में या उसी जन्म में पुण्य के उदय होने पर राजपदवी उन्हें मिलती है। थोडे-से व्रत पालने तथा इन्द्रिय और मन के निग्रह करने से ही जीव को पुण्योदय आने पर राज-पद मिलने में सन्देह नहीं

एकादशांगपाठोऽपि तस्य स्याद् द्रव्यरूपतः ।
आत्मानुभूति शून्यत्वाद्भावतः संविदुज्झितः ॥
न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थतः ।
यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञानं विन्दन्ति केचन ॥
तत्रोल्लेखोऽस्ति विख्यातः परिआदिक्षमोपियः ।
न स्याच्छुद्धानुभूतिः सा तत्र मिथ्यादृशि स्फुटम् ॥

अर्थ-- द्रव्यरूप से ग्यारह अंगों का अध्ययन करने पर तथा बाह्यरूप से महाव्रतों की क्रियाओं का पालन करने पर भी जो शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करता है, वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। शुद्धात्मानुभूति क न होने से ग्यारह अंगों का ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान ही रह जाता है। कारण स्पष्ट है कि स्वात्मानुभूति—सम्यग्दर्शन में ऐसी विलक्षणता वर्तमान है जिससे ज्ञान में सम्यक्पना आता है, इसके बिना चाहें जितना बडा ज्ञान हो मिथ्याज्ञान ही होता है। अतः परम पुण्य के अर्जन के लिये सबसे प्रथम स्वात्मानुभूति-सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिये।

अनुमात्रं व्रतमल्पकालमिरे मुन्न तत्फलप्राप्तियि।
अणुतद्मापतियादे निन्न नुदिनं सम्यग्व्रताचार ल-॥
त्तणमं शाश्वतवांतु देवपदमं कैवल्यमं कोवेने-
देंणिखुत्तुञ्जुगिपातने सुखियला ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥७९॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पूर्व जन्म मे किए हुए व्रताचरण का फल स्वल्प ही काल तक रहता है। उस फल से मनुष्य स्तुति करने योग्य राजा बन जाता है। जो मनुष्य श्रेष्ठ व्रताचरण के द्वारा स्वर्ग और शाश्वत मोक्ष को अंगीकार करने के विचार से प्रयत्न करता है नही सुखी होता है ॥७९॥

विवेचन—— प्रत्येक जीव को कृतकर्मों का फल अवश्य ही भोगना पडता है। चाहे वह राजा हो, चाहे दीन, चाहे समर्थ, चाहे असमर्थ, चाहे मूर्ख, चाहे विद्वान् पर कर्म के फल से बच नहीं सकता। जीव को कर्म और कर्मफल की श्रद्धा कर अपने आचार-विचार को शुद्ध करना चाहिये। यों तो पापकर्मों की संख्या गिनायी नही जा सकती है, पर आगम में प्रमुख-प्रमुख पाप-कर्मों के नाम गिनाये गये है।

जीवों का वधकरना, झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना, परिग्रह संचय करना, भगवान् की मूर्त्ति का अपमान करना, शास्त्रो का विपरीत अर्थ लगाना, मिथ्या लेख लिखना, स्वच्छन्द होकर अनर्गल चलना, मद्य-मास का भक्षण करना, अन्याय करना,

रहता है। जब थोडे व्रताचरण का फल राज्यपद पाना है तो पूर्ण व्रताचरण के पालने पर क्या निर्वाण लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं हो सकेगी ? व्रताचरण करने में अपूर्व शक्ति है, जो जीव उत्तम क्षमादि दस धर्मों का पालन करता है, रत्नत्रय धर्म का आचरण कर रहा है तथा गुप्ति, समिति और अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन भी करता रहता है, वह निर्वाण मार्ग का पथिक है और कभी न कभी मोक्ष को प्राप्त कर ही लेता है। निर्वाण लक्ष्मी को पा लेने पर मनुष्य सदा के लिये कृतकृत्य हो जाता है, उसकी आत्मा निर्मल निकल आती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को दृढ़ आत्मविश्वास, सद्विवेक और सदाचरण द्वारा निर्वाण प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

यह आत्मा अनादिकालीन अपनी भूल—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के कारण संसारी बनी हुई है, इस भूल के सम्यक्रूप में पृथक् करते ही यह आत्मा कल्याण पथ का पथिक बन जाती है। क्योंकि आत्मीयभावों के सम्यक् होते ही मिथ्यात्व को स्थान नहीं मिलता। कषायो और राग द्वेष की परिणति, जो रत्नत्रय के स्वरूप को विकृत किये हुए थी, निकल जाती है जिससे जीव को आत्मानुभूति हो जाती है, उसका परपदार्थों की आसक्ति दूर हो जाती है। उसकी भावनाएँ निर्मल हो जाती

हैं। यद्यपि संसार में आयु के अन्तिम क्षण तक उसे अपनी क्रियाएँ करनी पड़ती है, परन्तु वह उनमें लिप्त नहीं होता। सभी क्रियाओं को करता हुआ भी अनासक्त रहता है। फल की आकांक्षा उसे नहीं रहती तथा आत्मा के क्रिया-व्यापारों का सम्बन्ध भी नहीं मानता है। वह निर्लिप्त और निष्काम होकर समस्त कार्यों का करता रहता है।

मोक्षमार्ग के पथिक को अपने भावों को निरन्तर उज्वल बनाने की ओर ध्यान देना चाहिये। उसे अपना निरीक्षण सदा करते रहना चाहिये तथा सतर्कतापूर्वक अपने विपरीत भावों का निरोध करना चाहिये। जो रागादि भाव उत्पन्न हो रहे है, आत्मा को विकृत कर रहे हैं, उन्हें पौद्‌गलिक कर्म कृत मानना चाहिये। इन परकृत भावों में हर्ष-विषाद न करना तथा इन्हें आत्मा के व्यभिचारी समझना आत्मानुभवी का कार्य है। सबसे पहले प्रत्येक जीव को अपनी दृढ आत्मिक श्रद्धा को उत्पन्न करना चाहिये। जब श्रद्धा दृढ़ हो जाती है, विषयों से निवृत्ति होने लगती है तो तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति हो ही जाती है। अभिप्राय यह कि कल्याणपथ का अनुसरण वही कर सकता है, जो सर्व प्रथम संसार के पदार्थों को आत्मा से पर अनुभव कर ले। आत्मानुभूति के बिना अन्य क्रिया व्यापार निरर्थक है। लाटी संहिता में बताया है—

अर्थात् निर्मल सम्यग्दर्शन के साथ अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का धारण करना तथा अन्तिम समय विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करना गृहस्थ का पूर्ण धर्म है। जो गृहस्थ अपने इस कर्त्तव्य का पालन करता है, संसार के पदार्थों से मोहबुद्धि को हटाता है, विषय-कषायों का त्याग करता है और अपने इस पुण्योदय के आने पर स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष के सुख को प्राप्त कर लेता है। व्रताचरण करने से ही शाश्वत सुख मिलता है, अतः गृहस्थ धर्म का पालन प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य करना चाहिये।

भृत्यं तन्ननदंतु काएवनवनंतुर्वीश्वरं निस्म कं- ।
इत्यानंददे काएके केयमुगितमष्टांगातनसन्मुख- ॥
स्तौत्यं सेवेगळे विवं नगळुतं नविंदोडातंगे त-
त्प्रत्यर्थिक्षितिपालरेनेरगरे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥८०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार स्वामी को देखकर सेवक हाथ जोडकर नमस्कार करता है उसी प्रकार जो राजा भगवान को देखकर हाथ जोड़ कर आनन्द पूर्वक दर्शन करता है, अष्टाग नमस्कार करता है, स्तोत्र पढता है तथा सेवा करते हुए आप पर विश्वास रखता है वह राजा क्या अपने शत्रु राजाओ से वन्दनीय नहीं होगा ? ॥८०॥

विवेचन— वैभव प्राप्त कर जो राजे-महाराजे भगवान् की भक्ति करना नहीं छोडते है, निरन्तर प्रभु-चरणों का स्मरण कर अपनी आत्मा को पवित्र करते रहते है तथा भावपूर्ण स्तोत्रों को पढकर जो अपनी आत्मा को समुज्ज्वल करते रहते हैं; वे राजा अन्य राजाओं द्वारा पूज्य तो होते ही है, पर सद्गति को भी प्राप्त करते है। संसार में जीवन उन्हीं का सफल माना जाता है, जो जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति द्वारा अपने पापों को नष्ट करते हैं। भगवान की भक्ति आत्मा के निजी गुणों को उद्बुद्ध करने में परम सहायक होती है। वीतरागी प्रभु यद्यपि भक्त को स्वयं कुछ देते नहीं हैं, फिर भी उनकी भक्ति करने से अन्तरात्मा इतनी पवित्र हो जाती है

अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करना, कलहकारी उपदेश देना, श्रेष्ठ सदाचारी व्यक्तियों की निन्दा करना, धर्मात्माओं की निन्दा करना, विकथाएँ—राग उत्पन्न करनेवाली चर्चाएँ करना, किसी को कष्ट देने का विचार करना, कुशील सेवन का मन में संकल्प या विचार करना, आर्त रौद्र ध्यान करना, भोग-विलास का विचार करना, व्यसन सेवन का विचार करना या तद्रूप प्रवृत्ति करना आदि है। इन कार्यों को करने से पाप का बन्ध होता है। यदि जीव अपनी भलाई चाहता है, सुखी बनना चाहता है तो उसे ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे किसी भी जीव को कष्ट न हो।

जो व्यक्ति अपनी राग प्रवृत्ति का त्याग कर व्रताचरण को करता है, ससार में परिभ्रमण करनेवाली क्रियाओं का त्याग करता है तथा निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहता है, वह व्यक्ति सासारिक कष्टों को नहीं पाता है और कालान्तर में उसे निर्वाण पद की प्राप्ति हो ही जाती है। अत: पाप कर्मों से सदा विरत रहना चाहिये। प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि वह कल्याणकारी गृहस्थ धर्म का पालन करे। गृहस्थ के लिये सर्वप्रथम अष्टमूल-गुणों का धारण करना आवश्यक है। जबतक श्रावक मूलगुण धारण नहीं करता है, श्रावक नहीं कहा जा सकता है। श्रावक को श्रद्धालु, ज्ञानवान् और क्रियावान् होना चाहिये। मद्य, मांस, मधु और

पञ्च उदुम्बर फल—बड, पीपर, पाकर, ऊमर एव गूलर इन फलो का त्याग करना चाहिये। इन फलो के खाने से त्रस हिंसा होती है, छोटे-छोटे कीटाणु जो इनमे निवास करते है, उदरस्थ हो जाते है। अष्टमूलगुणो को धारण करने के उपरान्त अभक्ष्य भक्षण और जुआ खेलना, मान्स खाना, मदिरा पान करना, शिकार खेलना, वेश्या गमन करना इन सप्त व्यसनो का त्याग करना भी आवश्यक है। ये व्यसन आत्मा के स्वरूप को भुला देते है, आत्मा का कल्याण नहीं होने देते है। अभक्ष्यभक्षण करने से विचार और भावनाएँ कुठित हो जाती है, जिससे व्यक्ति की धर्माचरण की ओर प्रवृत्ति नहीं होती है। गृहस्थ को अपने आचरण को बढाने के लिये सम्यग्दर्शन के साथ द्वादश व्रतों का भी पालन करना चाहिये। पॉच अणुव्रत—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, और परिग्रह परिमाणुव्रत; तीन गुणव्रत—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत तथा चार शिक्षा व्रत--सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण एव अतिथिसंविभाग इन बारह व्रतों का पालन करना चाहिये। श्रीआशाधर जी ने गृहस्थ धर्म का वर्णन करते हुए बताया है—

सम्यक्त्वममलममलमणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते।
सल्लेखना च विधिना पूर्णसागारधर्मोऽयम ॥

जिससे सभी शक्तियाँ अपने आप प्राप्त हो जाती है। लक्ष्मी को प्राप्त कर अपने कर्त्तव्य को भूल जाना बड़ी भारी मूर्खता है। गृहस्थ के देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट् कर्मों में देवपूजा को प्रथम स्थान दिया है, क्योंकि भगवान् की पूजा, अर्चा करने से अपने कर्त्तव्य कर्म का ज्ञान प्राप्त होता है तथा आत्मा में अनेक गुणों का आविर्भाव होता है मानवोचित गुणों की प्राप्ति होती है, इन्द्रियों की दासता समाप्त हो जाती है तथा आत्मा का बोध हो जाता है।

प्रभुभक्ति करने से संसार से वैराग्य हो जाता है। चंचल लक्ष्मी, यौवन, पुत्र, स्त्री आदि पदार्थों की विनाशीकता को समझ जाता है। उसे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान हो जाता है। प्रतिदिन भगवान के दर्शन करने से आत्मा में अपूर्व शक्ति आ जाती है, भोगोपभोग के पदार्थ उसे फीके जचने लगते है तथा ऐसा भक्त जीव इन पदार्थों को पर समझने लगता है। उसे प्रभु-भक्ति में अपूर्व रस और आनन्द आता है, वह समस्त संसार के भोगों में नीरसता का अनुभव करने लगता है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषायें जिनके कारण इस जीव का रात-दिन व्याकुलता बनी रहती है, मन्द हो जाती है। प्रभु-भक्ति से सम्य-

प्राप्ति हो जाने पर आत्मा में अपरिमित शक्ति आ जाती

है। वह किसी भी असभव कार्य को कर सकता है नाना प्रकार की विपत्तियाँ आने पर भी वह अपने कार्य से डिगता नहीं है। दया और क्षमा की प्रवृत्ति उसमें अपूर्व उत्पन्न हो जाती है। आत्मा के गुणों का आविर्भाव हो जाने से वह सोचता है कि—

लक्ष्मी व्याधमृगीमतीवचपलामाश्रित्य भूपा मृगाः,
पुत्रादीनपरान्मृगानतिरुपा निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल।
सज्जीभूतघनापदुन्नतधनुः संलग्नसंहृच्छरं,
नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्धं यमं लुब्धकम् ॥

अर्थात्— जिस समय कोई शिकारी हिरणों को मारने के लोभ से अपनी पालतू मृगी को बन में छोड देता है तथा स्वयं हाथ में धनुष लेकर पास मे बैठ जाता है, उस समय जिस प्रकार कामी मृग उस मृगी को पाने के लिये लडते हैं तथा आयी हुई आपत्ति का कुछ भी ध्यान नहीं करते हैं; उसी प्रकार यह ससारी जीव शिकारी की मृगी के समान इस लक्ष्मी को पाकर परस्पर लडते है तथा उस लक्ष्मी के लिये अपने मित्र, बन्धु, पुत्र आदि को मार डालते है। वे यह नहीं समझते कि यह लक्ष्मी हमारे साथ जानेवाली नहीं है। इसका आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, लक्ष्मी को अपना मानने से कितने संकट आयेंगे तथा क्या क्या आपत्तियाँ भोगनी पडेगीं। जीवन भी क्षणिक है, काल सिर पर छाया हुआ

है अतः इस हाय-हाय के फन्दे में पडने से क्या लाभ ? इस ससार मे विपत्तियाँ तो आती ही है जो विपत्तियो के प्राप्त होने पर खेद करता है, या पश्चात्ताप करता है वह विवेक शून्य ही माना जायगा। विवेकी पुरुष ससार में रहता हुआ भी इससे भिन्न ही रहता है। ससार की मोह-माया या तृष्णा उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं करती है, वह तटस्थभाव से ससार का दर्शक बना रहता है। पदार्थों के विकल्प उसके मनमें उत्पन्न होते है, उसके ज्ञान पर उनका चित्र आता है पर वह उनमें अनुरक्त नहीं होता है। वह सर्वदा अपने को पर पदार्थों से भिन्न समझता है।

सुरप तन्निभविन्तु मावतिगनप्पं कांतेयि पाडिप ।
सुरसैन्य सहवागि निम्मभिषवक्कोल्दूळिग माळ्पना- ॥
दरदि छत्रमनेत्तुवं नटिसुवं पल्लक्किकयं ताळ्वनो ।
नरकीटादिगळेके गर्विसुवरो ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥८१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

देवेन्द्र आप की सेवा मे अपना ऐरावत नामक हाथी समर्पित कर महान् वन जाता है, अपनी पत्नी से गान करवाता है, देवताओं की सेना के साथ आप के अभिषेक के लिये प्रेम पूर्वक सेवा करता है, विश्वास के साथ छत्र धारण करता है, नर्तन करता है और पालकी को उठाता है। जब इन्द्र की यह दशा है तो तुच्छ मनुष्य, क्यों इतना अहकार करता है ? ८१

विवेचन--- प्रभुभक्ति करने के लिये इन्द्र, अहमिन्द्र, राजा, महाराजा आदि सभी तरसते रहते है। जो भगवान् की भक्ति करता है, उन के गुणों में लीन होता है वह धन्य है। वह अपना पर्याय को सफल करता है, महान् पुण्य के सचय के साथ परम्परा से मोक्ष को पाता है अज्ञानी जीव जो मोहकर्म की प्रेरणा से तृष्णा रूपी रोग से पीडित है, इस रोग को शान्त करने के नाना उपाय करते है, इन्द्रिय-विषयों की ओर दौड लगाते है, पर इससे उनका रोग और बढ जाता है, घटता नहीं, इस तृष्णा को पूरा करने के लिये नाना प्रकार के पाप और अत्याचार करते है जिससे कर्मों का दृढ बन्धन बाधते है।

भगवान् की भक्ति करने से उनके दिव्यगुणों का चिन्तन करने से इस भव-रोग को शान्त करने का उपाय समझ मे आ जाता है। आत्मानुभव रूपी दिव्य औषध के सेवन से मोह, राग-द्वेष आदि का रोग दूर हो जाता है जिससे जीव स्वस्थता और निराकुलता का अनुभव करने लगता है। यद्यपि वीतरागी प्रभु किसी भी भक्त को किसी भी प्रकार का सुख या मुक्ति नही देते है और न ससार-रोग को शमन करते है, पर उनका निमित्त प्राप्त कर कोई भी जीव मुक्त हो सकता है। आत्मशुद्धि उसे अपने आप अपने ध्यानरूपी पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हो जाती है। आत्मा का निश्चय रूप से गुरु आत्मा ही है, क्योकि अपने भीतर स्वय हित की लालसा उत्पन्न होती है तथा स्वय अपने को ही मोक्ष का ज्ञान प्राप्त करना पडता है तथा अपने को ही अपने हित के लिये प्रयत्न करना पडता है। श्री अर्हन्त भगवान् निर्ग्रन्थ गुरु और शास्त्र आदि बाह्य प्रेरक तथा उदासीन निमित्त है, इनके आलम्बन मे आत्मा कल्याण-मार्ग को पा सकता है। जो स्वयं पुरुषार्थ नहीं करते है, उन्हे मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है।

ससार के सभी पदार्थ क्षण भगुर है, इनकी अनित्यता को देख कर भगवान् की भक्ति करना तथा ध्यान और तपश्चरण द्वारा कर्म कालिमा को पृथक् करना आवश्यक है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति जानता है कि माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन, हितू,

मित्र सब का वियोग अवश्यम्भावी है। लक्ष्मी आज जिनके पास है, कल नहीं रहेगी, जो आज राजा है कल रंक हो सकता है, जो आज निरोगी है, कल रोगी हो सकता है, जो आज अधिकारी है, जिसका आदेश सहस्रों व्यक्ति सिर-मस्तक पर स्वीकार करते है, कल दीन हो सकता है। जो आज युवा है, जिसके हृदय में युवावस्था की तरगे वर्तमान है, जो प्रत्येक कार्य को जोश और खरोश क साथ करता है, जिसे दीन-दुनिया का कोई ज्ञान नहीं कल वही बुड्ढा हो दुरदुराया जाता है। घरवाले उसे पूछते नहीं, लडके-बच्चे उसे तग करते है, गाल पिचक जाते है, आखें धंस जाती है तथा दृष्टि मन्द हो जाती है, कमर टेढी हो जाती है, लाठी के बिना उससे चला नहीं जाता, लार और थूक जैसे घिनौने पदार्थ उनके मुंह से निकलते रहते है। देखते-देखते अवस्था बदल जाती है, मनुष्य कुछ का कुछ हो जाता है। जवानी में जिस चीज की कल्पना भी नहीं की थी, वही आकर घटित हो जाती है। सारी दुनिया बुड्ढे के लिये बदल जाती है, जिन्हें वह अपना समझता था जिनसे स्नेह करता था वे सब किनारा काटने लगते है।

जब मरण का समय आ जाता है तो मणि, मंत्र, तंत्र, वैद्य, डाक्टर, जादूगर, वैज्ञानिक कोई नहीं बचा सकता है। सभी हितैषी देखते रह जाते हैं और जीव इस नाशवान् शरीर को छोड़ कर

चल देता है। अतः मै मनुष्य हूँ, मै ज्ञानी हूँ, मै चारित्रवान् हूँ, मै त्यागी हूँ, आदि में लगे 'मै' रूप अहकार का त्याग करना चाहिये। जब तक यह अहंकार मनुष्य में लगा रहता है तबतक वह प्रभु-भक्ति और आत्मचिन्तन से वचित रहता है। अतः ससार और आत्मा इन दोनों के स्वरूप का विचार करते हुए प्रत्येक मनुष्य को भगवान् की पूजा, स्वाध्याय, संयम, गुरुभक्ति, शक्ति के अनुसार तप आदि में प्रवृत्त होना चाहिये। गृहस्थ का सबसे बडा हित प्रभु-भक्ति करने में है इससे उसे अपने आत्मोत्थान का मार्ग आगे अवश्य मिल जाता है।

दोरेयेनं पिडिदिर्पनतदने लोकं मेच्चुंगु तद्धरा-
वरना दुर्मतदत्त तानेळसिदंदा सादरं तन्नुवं ॥
नरकक्किक्किदोल्दु निम्मसतदत्तिच्छैसिदंदा तनु- ।
द्धरिसल्दाने समर्थनादनररे ! रत्नाकराधीश्वरा ॥८२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजा जिस विषय को स्वीकार करता है प्रजा भी उसी विषय को स्वीकार करती है। राजा अपना तथा अपनी प्रजा का उद्धार करनेवाला होता है। किन्तु जब वह अपने बुरे विचारों का अनुसरण करने लगता है तब वह और उसकी प्रजा नरक में जा गिरती है। अर्थात् प्रजा हितैषी होने के कारण राजा को सर्वदा धार्मिक प्रवृत्ति रखना आवश्यक है। ८२

विवेचन— संसार का प्रत्येक जीव इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, रोग, दरिद्रता, आलस्य आदि के साथ-साथ जन्मजरा, मरण आदि के कष्टों को उठा रहा है। कर्मरूपी रोग से प्रत्येक जीव पीडित है, किसी को भी एकक्षण के लिये शान्ति नहीं। कोई धन के लिये रोता है तो कोई सन्तान के लिये; कोई पुत्र के दुश्चरित्र होने से दुःखी है तो कोई कन्या सन्तान के होने से। कोई स्त्री के लिये दुःख से व्याकुल है तो कोई स्त्री के कुलटा होने से। कोई मूर्ख होने से दुःखी है तो कोई पढ़-लिख कर भी आजीविका न मिलने से। तात्पर्य यह है कि संसार में एक भी ऐसा प्राणी शायद ही होगा जो सर्व प्रकार से सुखी हो। वस्तुओं के अभाव

से या उनके सद्भाव से सब कोई त्रस्त है, विह्वल है। इस भय या दु:ख का प्रतीकार रत्नत्रय धर्म के द्वारा ही हो सकता है। यही धर्म जीव को कल्याण मार्ग पर लगा सकता है और संसार के समस्त झंझटों, विपत्तियों और चिंताओं से दूर कर सुख दे सकता है। श्री कुलभद्राचार्य ने संसार के दु:खों का निरूपण करते हुए बताया है—

कषायकलुषो जीवो रागरंजितमानसः ।
चतुर्गतिभवाम्बोधौ भिन्ननौरिव सीदति ॥
कषायवशगो जीवो कर्म बध्नाति दारुणम् ।
तेनासौ क्लेशमाप्नोति भवकोटिषु दारुणम् ॥

अर्थात्—क्रोध, मान, माया लोभ आदि कषायों से मलिन होकर जीव रागी मनवाला होता है जिससे चतुर्गतिरूपी संसार समुद्र में टूटी नाव के समान डूबता हुआ कष्ट प्राप्त करता है। कषायों के आधीन जीव भयानक कर्म बांधता है। इनके फल से जीव अनन्तानन्त भवों में नाना प्रकार के कष्ट प्राप्त करता है। अत: संसार भ्रमण के कारण मिथ्यात्व का सर्वप्रथम त्याग करना आवश्यक है। यह मिथ्यात्व—आत्मा का निश्चय विश्वास न होना तथा संसार के विषयों में अबाधप्रवृत्ति अथवा देव, शास्त्र और गुरु के प्रति अविश्वास ऐसा भयानक विष है जिससे मूर्छित हुआ प्राणी,

रात-दिन ससार के इन्द्रिय जनित सुखों की आकांक्षा के दाह से जलता रहता है। इस दाह को शान्त करने के लिये जिस शरीर मे जबतक जीव रहता है, निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। इच्छित पदार्थों का भोग करता है, पर तृष्णा या लालसा शान्त होने के स्थान में और प्रज्वलित होता जाती है, जिससे अनवरत यह जीव चाह की दाह में जलता रहता है।

आर्त्त या रौद्र परिणाम निरन्तर इस जीव को होते रहते है; जिससे यह स्त्री, पुत्र, धनादि की वाछा करता ही रहता है। इन पदार्थों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील बना ही रहता है। यदि कदाचित् सत्समागम हो जाने पर इस जाव ने सद्धर्म भी ग्रहण कर लिया तो भी निदान-फलाकॉक्षा करने से पुनः कष्ट का पात्र हो जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व के सस्कार के कारण विषय-सुख की तृष्णा में जलता हुआ यह जीव चतुर्गति में भ्रमण करता हुआ महान् कष्ट पाता है। यदि किसी समय मिथ्यात्व को दूर करने की औषध इसे आत्मानुभवरूप निश्चय सम्यग्दर्शन—आत्मा का अटूट विश्वास और विषयभोगो से विरक्ति प्राप्त हो गयी तो फिर सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को प्राप्त कर निश्चय हीनिर्वाण प्राप्त कर लेता है। कषाय और प्रमाद जिनके कारण पापमयी प्रवृत्ति निरन्तर होती रहती है, अवश्य दूर करने चाहिये। प्रमाद—असावधानी से अनेक भयकर से भयकर पाप होते है। जबतक जाग--

रूकना रहती है, व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं करता। मोह का उदय आनेपर भी वह अपने ज्ञानबल से मोहोदय को पराभूत करता है। परन्तु असावधानी के होने से पाप प्रवृत्ति अवश्य होती है, हिंसा, असत्य आदि पॉच पापो का प्रमुख कारण यह प्रमाद ही है। कषायो का अभाव भी प्रमाद से हो जाता है। अत: सबसे पहले जीव को इन्द्रियो का निग्रह करना चाहिये। क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों को भी आत्मा में उत्पन्न न होने देना चाहिये। निमित्त मिलने पर भी जो इन कषायों को नहीं उत्पन्न होने देते है, वे बडे भारी वीर है, आत्माके सच्चे कल्याणकारी है। अत: घर के बडे लोगो या राजा-महाराजा आदि को निरन्तर धार्मिक प्रवृत्ति रखनी चाहिये। जो राजा या प्रमुख व्यक्ति स्वय धर्माचरण करता है, उसकी प्रजा भी उसी का अनुसरण करती है। यदि राजा अधर्मात्मा होता है तो प्रजा भी उसकी देखादेखी अधर्मात्मा बन जाती है। अत: धर्माचरण करना परम आवश्यक है।
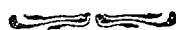
नररोळ्पुट्टि नरेंद्रनाद्दिनदोळ्सद्धमसं सन्मुनी-
श्वररं भव्यरनोलदु मन्निसियनाथर्गाश्रितर्गीवुतं ॥
परिवार प्रजेगळ्गे तायतेरदिंदो वुत्तमिर्प धरा-
वरनिंदा वर्दिलक्के नाळिनवनै रत्नाकराधीश्वरा ! ॥८३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मनुष्य का जन्म लेकर जो राजपदवी को प्राप्त होता है वह श्रेष्ठ धर्म के पालन से, श्रेष्ठ मुनि तथा भव्यजनों का प्रेम पूर्वक उपचार करने से, अनाथ तथा अपने आश्रय मे रहनेवालो को दान देने से, सेवक और प्रजा की माता-पिता की तरह रक्षा करने से आज पृथ्वी का अधिपति बनता है और कल स्वर्ग का स्वामी ॥८३॥

विवेचन— भगवान् की भक्ति करने एव सुपात्रो को दान देने से अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है, जो श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन भगवान् की पूजा, प्रतिष्ठा तथा धार्मिक उत्सव करने में अपने धन का व्यय करता है, वह महान् पुण्य का बन्ध करता है। सम्पत्ति की सार्थकता दान देने में ही है। इस चचल लक्ष्मी का कुछ भी विश्वास नहीं कि आज यह है कल रहेगी या नहीं, अतः इसका सदुपयोग दान, धर्म के कार्यों में करना चाहिये। आगम में दान का सामान्य, पोषक, उत्तम, मध्यम, जघन्य, संकीर्ण, कारुण्य और औचित्य इन आठ प्रकारों द्वारा वर्णन किया गया है।

जिनोत्सव को सब प्रकार से सफल बनाने के लिये साधर्मी भाइयों के द्वारा दी गयी सभी प्रकार की सहायता सामान्य दान

है। इस दान में पात्रो का विभाग नहीं किया जाता है, किन्तु भगवान् की प्रतिष्ठा या रथोत्सव आदि में आर्थिक दृष्टि से किसी प्रकार की कमी रहने पर तन, मन और धन से उसे दूर करना तथा उत्सव में समागत साधर्मी भाइयों को भोजन आदि से संतुष्ट करना सामान्य दान है। इस दान का ध्येय यह है कि किसी भी धार्मिक उत्सव को चाहे उसे एक व्यक्ति कर रहा हो या अनेक भाई सम्पन्न कर रहे हों, सभी साधर्मी बन्धुओ को उसे अपना-अपना समझना चाहिये और इस प्रभावना के कार्य को पूरा करने के लिये हर प्रकार से सहायता देना चाहिये। इस सामान्य दान का भी बड़ा महत्व है, इसके द्वारा कोई भी राज्य-सुख और स्वर्ग-सुखो को पा सकता है। पर दाता को दान अभिमान पोषण के लिये नहीं देना चाहिये। दान में अहकार का भाव आजाने से दान के फल में अभाव या न्यूनता आ जाती है।

अन्याय से उपार्जित धन को दान मे लगाना दोषद दान है। क्योकि अन्याय से उपार्जित द्रव्य जिसको दिया जायगा, उसकी भी बुद्धि निर्मल नहीं हो सकती है। जो पाप कर्म कर तथा पाप कार्यों से धनार्जन कर यह सोचते है कि इसमें से कुछ दान कर देनेपर पाप धुल जायेंगे, अतः दान कर दिया जाय अथवा जो व्यक्ति इस विचार के अनुसार दान कार्य करते हैं, उनका यह दान दोषद दान है। इस प्रकार के दान से पूरा पुण्य कभी नहीं मिल

सकता है। हाँ, भावना दान करते समय निर्मल रही तो इस प्रकार के दान से भी पुण्य लाभ हो सकता है। दाता को न्याय से कमाये गये धन का दान करने में अपरिमित फल मिलता है अतः सदा न्याय से धनार्जन कर दान कार्य करना चाहिये। दिगम्बर जैन मुनियों को, जिन्होंने अपनी आत्मा को रत्नत्रय से विभूषित कर लिया है आहार, शास्त्र आदि का दान देना उत्तम दान है। उत्तम पात्र दिगम्बर मुनि ही है, अतः इनको भक्ति पूर्वक दान देना महान् पुण्य बन्ध का कारण है।

ऐलक और क्षुल्लकों को एव व्रती श्रावको को आहार आदि का दान करना मध्यम दान है। श्रावक के उत्कृष्ट व्रतों से इन्होंने अपनी आत्मा को विभूषित कर लिया है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के धारण करने से आत्मा पवित्र हो गयी है एवं मोक्षमार्ग का अनुसरण करनेवाले हैं, अतः मध्यम पात्रों को भी दान देने से महान् पुण्य का सचय होता है। इस प्रकार के दान से दाता की आत्मा परम पवित्र हो जाती है, क्योंकि दाता द्वारा दिये गये दान से ही धर्म साधन का कारणीभूत शरीर स्थिर रहता है। अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक को आहार, औषध, ज्ञान और अभय इन चारों दानों को देना जघन्य दान है। ये तीनो दान पात्र की योग्यता पर आश्रित है, पात्र जैसा उत्तम मध्यम और

जघन्य होगा, दान भी वैसे ही कहे जायेंगे। ये तीनों दान स्वर्गादि सुखों के साथ परम्परा से निर्वाण प्राप्ति में सहायक होते है।

रथोत्सव, पञ्चकल्याणक और जिन भक्तों के विवाह आदि कार्यो में आमन्त्रित पात्र, अपात्र आदि को यथायोग्य सम्मान कर आहार, वस्त्र, तांबूल आदि द्वारा सत्कार करना सकीर्ण दान है। रोगी, दु:खी, बन्धनबद्ध, दण्डित, भूखे-प्यासे को करुणा से दान देना तथा संकट से रक्षा करना करुणा दान है। भगवान् की सेवा में तत्पर रहनेवाले किसी भी जाति और कुल के व्यक्ति को आहार आदि से सन्तुष्ट करना औचित्य दान है। इस दान का अभिप्राय भोजकी, गायक आदि को द्रव्य देने से है। इस प्रकार जो दान करता है, उसे इस लोक मे सुख मिलता है और पर लोक में भी। दान करना प्रत्येक व्यक्ति का परम धर्म है, इससे राजपद का मिलना बहुत आसान है।

एष्टेष्टैसिरि पर्चुगुं तनगे तानष्टष्टु सद्धर्मं कु-
त्कुष्टंमाडलेवेळ्कु नोंपिगळना निर्ग्रंथरं निच्च सं- ॥
तुष्ट माडलेवेळ्कु धार्मिकजनक्का धारवागलुके वे-
ळ्किष्टुं तां सुकृतानुवंधिसुकृत रत्नाकराधीश्वरा ! ॥८४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सम्पत्ति जितना बढे उतना ही अधिक उसका उपयोग श्रेष्ठ धर्म की अभिवृद्धि मे, पूजा मे और परिग्रह रहित मुनिजनो को प्रतिदिन संतोष-प्रद ढ़ंग से दान देने में करना चाहिए। इन सभी कार्यों के करने मे सुकृतानुवधी सुकृत होता है। सम्पत्ति का वढाना पाप नही, पाप है उसका दान धर्म मे व्यय न करना। अत. दान करना अत्यावश्यक है। ८४॥

विवेचन—अधिकाश व्यक्ति यह समझते है कि धैर्य धारण करने का अर्थ है सुख को छोडकर कष्ट सहन करना, क्योंकि व्रत, उपवास करना, पूजा करना, दान देना, भोगोपभोग की वस्तुओ का त्याग करना धर्म है। इस धर्म का पालन करने के लिये अनेक कष्ट भी सहन करने पडते है। पर उनको सोचना चाहिये कि जैसे रोगी मनुष्य को पथ्य करने—स्वास्थ्य के विरुद्ध वस्तुओं का त्याग करने, अपने रहन-सहन को भी उसी के अनुसार रखने में कष्ट मलूम होता, पर इस पथ्य से उसका वास्तविक कल्याण होता है। अपथ्य सेवन से रोग बढ़ता जाता है, कभी-कभी मृत्यु के मुख में भी रोगी को चला जाना पड़ता है। अतएव बुद्धिमानी

पथ्य सेवन करने में ही प्रतीत होती है, क्योंकि वास्तविक भलाई इसीमें है। निरोग होने के लिये कड़ुवी दवा भी पीनी पडती है, पर आगे उसका फल मधुर होता है। रोगी चंगा हो जाता है, इसी प्रकार अपना कल्याण करने के लिये ससारी जीव को सयम, दान, प्रभु-भक्ति आदि कार्य करने में प्रारम्भ में कठिनाई प्रतीत होती है, पर आगे उसका जीवन सुधर जाता है।

धन कमाना, अपनी सम्पत्ति को बढाना और श्रेष्ठ उपायो द्वारा अपने ऐश्वर्य को बढाना अनिष्टकर नहीं! पर अनिष्टकर है, उस सम्पत्ति द्वारा दान-धर्म न करना, पूजा-प्रतिष्ठा में धन न लगाना, असमर्थ विद्यार्थियों को विद्यार्जन के लिये छात्रवृत्ति न देना, भूखे-नगों को भोजन-वस्त्र से सहायता न करना केवल अपने भोग-विलास में ही धन खर्च करना तथा दिन-रात इन्द्रियों की तृप्ति करने में लगे रहना। बुद्धिमान् व्यक्ति जिस प्रकार श्रेष्ठ वृक्ष के फलों को वृक्ष को जड से उखाड कर नहीं खाते है, बल्कि उस वृक्ष के फलों को तोड कर ही खाते है, जिसमे वृक्ष का अस्तित्व सदा के लिये बना रहता है और उससे निरन्तर फल मिलते रहते है। इसी प्रकार सम्पत्ति, जो पूर्व पुण्य से प्राप्त हुई है केवल इन्द्रियों को सतुष्ट करने में खर्च कर दी जाय और उससे आगे के लिये कुछ भी पुण्यार्जन न किया जाय तो वह कब तक रहेगी। पूर्व पुण्य के क्षय होते ही नष्ट हो जायगी आगे उस व्यक्ति को दुःख ही

उठाना पडेगा। अतएव सम्पत्ति को प्राप्त कर दान धर्म करना चाहिये। दान करने से कोई भी व्यक्ति कभी दरिद्री नहीं बनता और न उसे कभी कष्ट भोगना पडता है। ससार के इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा जिसमें यह बताया गया हो कि दान करने से अमुक व्यक्ति दरिद्र बन गया और उसका धन क्षय हो गया। सम्पत्ति का क्षय सदा व्यसनों के सेवन से होता है।

व्यसनों का प्रवेश होते ही सम्पत्ति घर से कूंच कर जाती है। देखते-देखते पता भी नहीं लगता कि कब मनुष्य दरिद्र बन गया। कुछ समय के पश्चात् एकाएक वह दरिद्री, दुःखी और दीन दिखलायी पडने लगता है। जुआ खेलना और वेश्या गमन करना ये दो व्यसन इतने खराब है कि इनके सेवन करनेवाले के पास सम्पत्ति रह नहीं सकती है। कुछ समय के लिये वह भलेही-आनन्द का अनुभव करले, पर पीछे उसे अवश्य पछताना पडता है। अतः जो समृद्धशाली है, उन्हे इन्द्रिय सयम का पालन करते हुए दान-धर्म के कार्यों में सतत प्रवृत्ति करनी चाहिये। पूर्व पुण्योदय से प्राप्त लक्ष्मी का उपयोग करते हुए जो धर्माराधना करता है, दान-पुण्य के कार्यों में निरन्तर भाग लेता रहता है उसके उस पूर्व सचित पुण्य कर्म के रस में वृद्धि होने से वर्तमान सुख में भी वृद्धि हो जाती है तथा नवीन पुण्य कर्म का बन्ध होने से आगे भी सुख की प्राप्ति होती रहती है।

जो व्यक्ति वर्तमान मे दु.खी है, उसके लिये भी धर्म परम सुखदायक है। धर्म सेवन क लिये धन की ही आवश्यकता नहीं है, बिना धन के भी धर्माचरण किया जा सकता है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय को मन्द करना, दया धर्म का अनुसरण करना, अभिमानवश किसी भी व्यक्ति को बुरे वचन न कहना, हित-मित-प्रिय वचनों का व्यवहार करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये उपकारी है। अत· धनी और निर्धनी सभी को धर्माचरण करना आवश्यक है।

व्रतम माण्दोडे सेवे माण्दुदरिदे ? शीलोपवासक्के वे-
च्चुतिरल्विक्रमलद्मि जार्वुदरिदे ? सत्पात्रदान विच-॥
च्छितमागल्सिरिकुंदिवर्पुदरिदे ? निम्मचेनासभ्रम।
च्युतमागलनृप वैभवं सडिलदे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥८५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

अहिंसादि व्रत के छूट जाने से नौकरो द्वारा होनेवाली सेवाएँ न मिले तो क्या आश्चर्य है ? आचरण के हेतु उपवास आदि से डरा जाय तो पराक्रम और सम्पत्ति के अलग हो जाने मे क्या देरी हो सकती है ? यदि सत्पात्र को दान देना बद होजाय तो सम्पत्ति के क्षीण होने में क्या देर लगेगी ? आपकी पूजा और उत्सव के भाव लुप्त हो जायँ तो क्या राज-सम्पत्ति शिथिल न होगी ? ॥८५॥

विवेचन— ससार में समस्त सुख पुण्योदय से ही प्राप्त होते है। पुण्योदय के बिना एकक्षण के लिये भी सुख नहीं मिल सकता है। जीव जबतक पचाणुव्रतों का पालन करता है, तब तक उसे नाना ऐश्वर्य और विभूतियाँ प्राप्त होती रहती है। पुण्योदय और पुण्यार्जन के दूर होते ही समस्त सुख सामग्रियाँ नष्ट हो जाती है। जो नौकर-चाकर संकेत पाते ही सारे कार्यो को कर डालते थे, वे भी मुख मोड लेते है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा व्रत, उपवास, दान, पूजा और संयम आदि का पालन करना चाहिये। किसी भी व्यक्ति का आत्मोत्थान तथा किसी को भी सासारिक सुख

सम्पत्ति, वैभव आदि मिलते है, अत' समस्त सुखों की प्राप्ति के प्रधान कारण धर्म की रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। जैसे किसान खेत में जितना अनाज उत्पन्न करता है, उसमें से खर्च करने के बाद बीज बोने के लायक अनाज अवश्य बचा लेता है तभी वह आगे सुख और शान्ति से अपनी आजीविका चला सकता है। इसी प्रकार प्राप्त पुण्य के उदय से सुखों को भोगना चाहिये, पर आगे की भी कुछ चिन्ता करनी चाहिये।

धर्म कल्पवृक्ष के समान ही नहीं अचिन्त्य फल देता है, पर उससे भी अधिक। क्योंकि कल्पवृक्ष से फल पाने के लिये मन में सकल्प करना पड़ता, पर धर्म के लिये यह बात नहीं है। यह तो स्वय जीव को सुख प्रदान करता है, इसके लिये मानसिक संकल्प भी नहीं करना पडता, किसी प्रकार की याचना नहीं करनी पडती और न किसी भी तरह का चिन्तन ही। धर्म-सेवन द्वारा वचनातीत फल मिलता है, इसके द्वारा दुष्कर कार्य भी सुकर हो जाते है।

धर्म का साधन मुख्य परिणामों—भावों की विशुद्धता है। पुण्य और पाप का सचय परिणामों के ऊपर आश्रित है तथा परिणामों की विशुद्धता या मलिनता जीव क ऊपर स्वय आश्रित है अतः कोई भी जीव जैसा चाहे वैसा बन सकता है। अतः सुख

का साधन पुण्यसंचय, पुण्य की वृद्धि, पापबन्ध का निरोध तथा पूर्वसंचित पाप का ह्रास है। पूर्व पुण्य के उदय होने पर भी पाप का निरोध न किया जाय तो जीव को सुख नहीं मिल सकता है, क्योंकि बन्धनेवाला जब उदय में आयगा तब कष्ट या दुःख ही देगा।

जो अज्ञान या मिथ्यात्व वश धर्म की रक्षा नहीं करते हैं, नवीन धर्म का संचय न कर केवल पूर्व संचित धर्म के फल को भोगते है, वे पापी उत्तम फल देनेवाले वृक्षों को काटकर फल खानेवालों के समान है। अभिप्राय यह है कि जो निरन्तर विषयों का सेवन करते हुए धर्माचरण से दूर भागते हैं, वे धर्म का उच्छेदन कर पाप का सचय करते हुए दुःख के पात्र बनते है। पुण्योदय से प्राप्त भोग भोगने के साथ विषय सेवन का कोई विरोध नहीं है, क्योंकि सावधानी पूर्वक भोग भोगने से धर्म का संरक्षण होता है। धर्म भावना कषायों को मन्द करने, सन्तोष तथा अहिंसादि परिणामों के धारण करने से सहज में ही प्राप्त की जा सकती है। प्राप्त विषयों में असन्तोष और अप्राप्त विषयों के लिये अत्यन्त तृष्णा करना ही सबसे बडा पाप है। इसकी पूर्ति के लिये ही जीव को हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापों का आश्रय लेना पडता है।

गृहस्थाश्रम में रहकर सासारिक सुखों को भोगते हुए भी जीव पुण्यबन्ध कर सकता है, अपनी आत्मा का उत्थान कर सकता है।

आत्मकल्याण करने के लिये सब को घर छोडना आवश्यक नहीं, बिना छोडे भी अभ्यास वश कषायें मन्द की जा सकती है। कषायों को मन्द करने का उपाय यह है कि प्राप्त भोगों में सन्तोष करना, उद्विग्न न रहना, अप्राप्त इष्टानिष्ट विषयों की तरफ उत्कट राग-द्वेष न रखना, अन्याय तथा अभक्ष्य भक्षण न करना एव लोक या राज्य विरुद्ध आचरण न करना। इन्द्रियजयी व्यक्ति भी कषायों को मन्द करता है। अतएव पुण्यार्जन करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

भूकपं ग्रहणं बर ग्रहदनिष्टं व्यंतरोग्रं रुजा-
शोक दुःस्थितिगव्य मत्यगजवाहन्मारि दुस्वप्नना- ॥
नाकष्टक्के महाभिषेक कलिकुंडाद्यर्चनं संघपू-
जाकार्यं दोरे माळ्प शांति कवकवला रत्नाकराधीश्वरा ८६

हे रत्नाकराधीश्वर !

भूकंप, सूर्य्य और चन्द्र ग्रहण, महामारी, आकस्मिक विपत्ति, गृहस्थ-पीडा, व्यंतर देवोंका प्रकोप, रोगादि का दु.ख, दुष्काल की स्थिति, गाय मनुष्य, हाथी और घोडो का भयकर रोग, दुस्वप्न, इत्यादि नाना प्रकार के दु.खों की जिनेन्द्राभिषेक और कलिकुड आदि यंत्रो की आराधना तथा इन्द्रध्वज विधान आदि राज्य द्वारा होनेवाले शान्ति के प्रयत्न हैं। ॥८६॥

विवेचन--- विपत्ति के समय भगवान् का अभिषेक, स्तवन, पूजन एव बडे-बडे विधान करने से पुण्य का बन्ध होता है, जिससे पाप जनित अशान्ति दूर हो जाती है। भूकम्प एव महामारी जैसी आकस्मिक विपत्तियों की शान्ति भी कलिकुण्ड आराधना, वज्रपंजर-विधान, इन्द्रध्वज-विधान आदि के द्वारा हो जाती है, क्योंकि इन आराधनाओं के करने से महान् पुण्य का बन्ध होता है तथा यक्ष-यक्षिणियाँ, जोकि भगवान् का सेविका बतायी गयी है, पुण्य के प्रभाव से आकर विपत्ति को दूर करती है,। व्यन्तर देव सर्वत्र विहार करते है, वे जिनेन्द्र भगवान् के भक्तों पर आयी हुई विपत्तियों को दूर करने में किसी भी प्रकार की आनाकानी नही करते।

आत्मकल्याण करने के लिये सब को घर छोडना आवश्यक नहीं, बिना छोडे भी अभ्यास वश कषायें मन्द की जा सकती है। कषायों को मन्द करने का उपाय यह है कि प्राप्त भोगों में सन्तोष करना, उद्विग्न न रहना, अप्राप्त इष्टानिष्ट विषयों की तरफ उत्कट राग-द्वेष न रखना, अन्याय तथा अभक्ष्य भक्षण न करना एव लोक या राज्य विरुद्ध आचरण न करना। इन्द्रियजयी व्यक्ति भी कषायों को मन्द करता है। अतएव पुण्यार्जन करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

भूकपं ग्रहणं बरं ग्रहदनिष्ट व्यंतरोग्रं रुजा-
शोकं दुःस्थितिगव्य भत्यगजवाहन्मारि दुस्वप्रना- ॥
नाकष्टकके महाभिषेक कलिकुंडाद्यर्चन सघपू-
जाकार्यं दोरे माळ्प शांति कवकवला रत्नाकराधीश्वरा ८६

हे रत्नाकराधीश्वर !

भूकप, सूर्य्य और चन्द्र ग्रहण, महामारी, आकस्मिक विपत्ति, गृहस्थ-पीडा, व्यतर देवोंका प्रकोप, रोगादि का दु ख, दुष्काल की स्थिति, गाय, मनुष्य, हाथी और घोडो का भयकर रोग, दुस्वप्न, इत्यादि नाना प्रकार के दु.खों की जिनेन्द्राभिषेक और कलिकुड आदि यंत्रों की आराधना तथा इन्द्रध्वज विधान आदि राज्य द्वारा होनेवाले शान्ति के प्रयत्न है। ॥८६॥

विवेचन--- विपत्ति के समय भगवान् का अभिषेक, स्तवन, पूजन एवं बडे-बडे विधान करने से पुण्य का बन्ध होता है, जिससे पाप जनित अशान्ति दूर हो जाती है। भूकम्प एव महामारी जैसी आकस्मिक विपत्तियों की शान्ति भी कलिकुण्ड आराधना, वज्रपंजर-विधान, इन्द्रध्वज-विधान आदि के द्वारा हो जाती है, क्योंकि इन आराधनाओं के करने मे महान् पुण्य का बन्ध होता है तथा यक्ष-यक्षिणियाँ, जोकि भगवान् की सेविका बतायी गयी है, पुण्य के प्रभाव से आकर विपत्ति को दूर करती है, । व्यन्तर देव सर्वत्र विहार करते है, वे जिनेन्द्र भगवान् के भक्तों पर आयी हुई विपत्तियों को दूर करने में किसी भी प्रकार की आनाकानी नहीं करते।

पुण्य के प्रभाव से व्यन्तर देव किंकर बन जाते है, पुण्यात्माओं के अनुसार चनकर सब प्रकार से उनकी सहायता करते है। भक्तामर स्तोत्र में भगवान् की स्तुति और पूजा का महात्म्य बताते हुए कहा है-

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं ,

त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति ।

दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव ,

पद्माकरेषु जलजानि विकाशभाञ्जि ॥

अर्थ-- हे प्रभो ! आपकी स्तुति और पूजा समस्त रागादि दोषों को दूर करनेवाली है। प्रभो ! आपके नाम-मात्र मे ही जीवों क पाप का नाश हो जाता है। सूर्य की किरणों के प्रकाश की तो बात ही क्या, प्रात कालीन प्रभा की लालिमा से ही कमल विकसित हो जाते हैं, उनका उदासीनपन दूर हो जाता है। भगवान् वीतरागी है, भक्त पर कुछ भी अनुग्रह नहीं करते, फिर भी उनके नाम तथा गुणों के स्मरण से वह शक्ति आ जाती है। जिससे समस्त पाप कालिमा के दूर होने से पुण्य का सचय हो जाता है और आत्मानुभूति जाग्रत हो जाती है।

पवित्र आत्माओ की पूजा करने या नाम स्मरण करने से पापों का नाश होता है, अन्तराय कर्म का बल कम हो जाता है। पवित्र आत्मा में जितना शुभराग लगता है, जीव का उतना ही

पाप दूर हो जाता है और पुण्य का बन्ध होता है। इसलिये पूज्य पुरुषों की भक्ति पाप को गलाकर पुण्य प्रकट करती है और सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाती है। जब व्यक्ति यह समझता है कि भगवान् की पूजा करने से, उनकी आराधना करने से हमारा अमुक कार्य अवश्य हो जायगा क्योंकि भगवान् सुख, दुःख देनेवाले हैं, तब निश्चय ही सम्यग्दर्शन का घात हो जाता है तथा मिथ्यात्व की भावना का उदय हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव भगवान् को प्रसन्न करने के लिये पूजा नहीं करता है, क्योंकि वह जानता है कि भगवान् निरपेक्ष है, वीतरागी है, वे किसीसे स्नेह या द्वेष नहीं करते। भगवान् के पवित्र गुणों का स्मरण करने से ही आत्मा में इतनी पवित्रता और विशुद्धि आ जाती है जिससे पाप कर्म हलका हो सकता है। प्रबल पाप के उदय को पलटना तो कठिन ही है, पर सामान्य पाप के उदय को पलटा जा सकता है। क्योंकि स्वयं हम ही तो करने और भोगनेवाले है।

भगवान् की पूजा और आराधना विपत्ति के समय करने का जो विधान किया गया है, उसका इतना ही अर्थ है कि विपत्ति के समय इन कार्यों से आत्मिक शान्ति मिलती है तथा भावनाओ के पवित्र होने से उस समय शुभ का बन्ध होता है।

दीक्षाग्राहिगळं दयाश्रुतमना यक्षकळं निम्म स-
ल्लक्षद्विंबमनानेयंदनगळोळ् पल्लक्किक योळ् तेरोळि- ॥
ट्टत्तूपोत्सवदिं प्रभावनेगळ माळ्प निरायासदिं ।
मोक्षश्रीगधिनाथनप्पुदरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा ॥८७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दीक्षा ग्रहण करना, दयामय शास्त्र को पढना, यक्ष यक्षिणी सहित श्रेष्ठ और प्रकाशमान जिन प्रतिमा को हाथी पर, पालकी में, रथ में रखकर अत्यधिक उत्सव सहित सवारी निकालनेवाले बिना कष्ट से कुछ समय के पश्चात् मोक्ष लक्ष्मी को क्या प्राप्त नही कर सकेंगे ? ॥८७॥

विवेचन- — प्रभावना करना धर्म के लिये नितान्त आवश्यक है। प्रभावना का सीधा-सादा अर्थ यह है कि अपने धर्म की उन्नति, विकास और प्रसार के लिये रथोत्सव करना, बडे बड़े विधान करना, प्रतिष्ठा करना, जिसमे सहस्रों या लाखों की संख्या में जनता धर्म के बाह्यरूप को देख सके। धर्म के अंतरंग रहस्य परिणाम शुद्धि या आत्मिक शान्ति को साधारण जन-समाज नहीं समझ सकता है। वैयक्तिक होते हुए भी धर्म को सामूहिक या सामाजिक रूप देना ही प्रभावना है। उत्सव करने से सैकडों ही नहीं सहस्रों व्यक्ति धर्म की ओर आकृष्ट होते है। उत्सव आदि धर्म प्रचार में बडे भारी सहायक है, इनके द्वारा किसी भी धर्म का प्रचार सरलता पूर्वक किया जा सकता है। क्योंकि बाह्यरूप को देखकर

अधिकाश भावुक व्यक्तियो का धर्म मे दीक्षित हो जाना या उस धर्म से परिचित हो जाना स्वाभाविक है।

पुरातन काल में धर्मपरिवर्तन के प्रधान साधनो मे रथोत्सव, शास्त्रार्थ और मान्त्रिक चमत्कार थे। जो सम्प्रदाय इन कार्यों में प्रवीण होता था, वह अपने धर्म के अनुयायियो की सख्या बढा लेता था। उसकाल मे राजा के अनुसार ही प्रायः प्रजा का धर्म रहता था। यदि राजा जैन धर्मानुयायी है तो उसकी प्रजा भी प्रसन्नता से इसी धर्म की अनुयायी बन जाती थी और कालान्तर मे उसी राजा के शैव धर्मानुयायी हो जाने पर प्रजा को भी शैव धर्म ग्रहण करना पडता था, इस प्रकार उसकाल में धर्म प्रचारक धर्म के बाह्यरूपो को जनता के सामने रखते रहते थे।

वर्तमान में भी रथोत्सव, पूजा, प्रतिष्ठा आदि प्रभावना के कार्यों की बडी आवश्यकता है। इन कार्यों के द्वारा जनता में धार्मिक अभिरुचि उत्पन्न की जाती है, जनता किसी भी धर्म को जान सकती है तथा उसकी ओर आकृष्ट भी हो सकती है। आज पूजा, प्रतिष्ठा के अलावा भी जैन-शास्त्रो को छपवाकर बाँटना, जिससे सर्व साधारण जैनधर्म के तत्त्वो से अवगत हो, प्रभावना का कार्य है। इस कार्य द्वारा प्रभावना तो होती है, पर पुण्य का भी महान् बन्ध होता है, क्योकि शास्त्रो के अध्ययन द्वारा अनेक

व्यक्ति अपने आचरण को सुधार सकते है, अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते है तथा असत् मार्ग से हट कर सत् मार्ग में लग सकते है। अतः प्रभावना के कार्यों से पुण्यार्जन होता है, जिससे जीव को परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

धन पाकर जो व्यक्ति धन का व्यय नहीं करता है, केवल अपने भोग-विलास को ही सब कुछ समझता है, उसीमें मस्त रहता है, वह व्यक्ति निम्न कोटि का है। उसका जीवन पशुवत् है, क्योंकि खाना-पीना यही सकुचित क्षेत्र उसके जीवन का है। मनुष्य जन्म को प्राप्त कर जिसने अपने अभीष्ट धर्म का उद्योत नहीं किया तथा अपने अर्जित धन मे से मानव कल्याण मे कुछ नहीं लगाया, उसका जीवन निरर्थक है। नीतिकारों ने ऐसे व्यक्ति की बडी भारी निन्दा की है।

प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कमाई का आठवॉ या दसवॉ भाग दान में अवश्य खर्च करे। आज के युग में मन्दिर बनवाने या प्रतिष्ठा करवाने की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, जितनी ज्ञानदान और जैन साहित्य के प्रचार की है। मन्दिर इस समय पर्याप्त सख्या मे प्रत्येक नगर में वर्तमान हैं, अधिक मन्दिर रहने से उनकी व्यवस्था भी ठीक नहीं हो पाती है, अतः अब प्रभावना के लिये मन्दिर की आवश्यकता नहीं। ग्यो-

त्सव आदि प्रभावना के लिये आज भी उपयोगी है, पर इनको भी सभल कर करना चाहिये। क्योंकि प्रभावना का ठोस कार्य जितना साहित्य के प्रचार या शिक्षा द्वारा हो सकता है, उतना रथोत्सव आदि से नहीं। साहित्य के प्रचार से जैनधर्म का यथार्थ बोध जनता कर सकती है तथा जैनधर्म के मौलिक आध्यात्मिक तत्त्वों का मनन कर सकती है। जैनधर्म आचार और विचार दोनों ही दृष्टि से सर्व साधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला है तथा इनके मनन, चिन्तन द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है। अतः प्रत्येक श्रावक को दान अवश्य करना चाहिये।

होर:मिचि होलेवेरणे सोल्व शृंगारवीरक्के बा-
योरदी तस्करजार वीरविटवेश्या काव्यम केळ्दु मे- ॥
यमरे वपुंण्य पुराणदत्तेळसरय्यो ! भूपरोल्दम्लम ।
सुरिवपाल्गुडियेंदर जडिवरै रत्नाकराधीश्वरा ॥८८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजा लोग बाहरी चमक-दमक रखने वाली चाडाल स्त्री के वश में हो जाने के कारण मुह में पानी भरकर अर्थात् अत्यधिक चाव के साथ श्रृङ्गार और वीर रस के काव्य, कुटिल स्त्री, वीर पुरुष और वेश्याओं के गाने सुनकर अपने कर्त्तव्य को भूल जाते हैं। महापुरुषों की पुण्यमयी कथाओं की उपेक्षा करते है। यह कितने आश्चर्य की बात है ! वे अपने आप विषय रस को तो चाटते हैं पर जो उन्हे दुग्धपान का उपदेश देता है उसे डरा देते हैं। आज यह दशा राजाओ या बडे व्यक्तियो की ही नहीं, किन्तु सर्वसाधारण की हो रही है, सभी ।वषयो में सलग्न है। कितना आश्चर्य है ? ॥८८॥

विवेचन— जीव में जब अनात्मीय भाव आ जाते है, तब वह आत्मस्वरूप को भूल जाता है और परपदार्थों को अपना समझने लगता है। विषय-सुख, जो आत्मा के स्वरूप से सदा भिन्न हैं, जिनका सम्बन्ध इस आत्मा से बिल्कुल नहीं है, यह जीव अपना मानने लगता है। इसीका नाम मिथ्यादर्शन है, इसीके प्रभाव से यह जीव ससार के पदार्थों में मोह बुद्धि करता है, तथा अपने स्वरूप को भूल जाता है। 'त्येक अनात्मीय वस्तु इसे आत्मीय

प्रतीत होती है, इसी कारण इस जीव को धन, पुत्र, स्त्री आदि प्रिय लगते है। अपनी विषयेच्छा को पुष्ट करने के लिये यह नाना प्रकार के शृंगारिक काव्यों का अध्ययन करता है, नीच पुरुषों की संगति करता है तथा सप्त व्यसनों के सेवन में लग जाता है।

मिथ्यादर्शन के कारण जीव को हिताहित का विवेक नहीं रहता है। विषय-भोगों की आकाङ्क्षाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। नाना विषयों को बार-बार भोगता है, बार-बार छोडता है, पर इसे तृप्ति नहीं होती। शान्ति का परम कारण इस जीव ने भौतिक इन्द्रिय जन्य वासनाओं को तथा उनकी पूर्ति करनेवाले पदार्थों को मान लिया है, इससे इसकी भ्रान्ति बढती ही जाती है। अपने गुणों से इसे मोह नहीं रहता और न उनकी प्राप्ति की आकाङ्क्षा होती है, किन्तु अन्य के गुणों को अपना मानता है, उन्हीं से प्रेम करता है तथा भ्रमवश परायी वस्तु को अपनी समझ लेता है।

मिथ्या दर्शन के कारण ही इस जीव का सारा ज्ञान भी मिथ्या हो जाता है, जिससे शरीर को आत्मा और शरीर की नाना अवस्थाओं को अपनी अवस्थाएँ मानता है। भ्रान्ति से उत्पन्न इन अवस्थाओं में इसकी कषाय के अनुकूल जो अवस्था होती है उसमें प्रसन्न होता है, क्षणिक सुख का अनुभव करता है, पर कषाय की प्रतिकूल अवस्था में विषाद करता है। पञ्चेन्द्रियों के विषय के

सेवन में भी जीव का लक्ष्य कषाय पुष्टि ही होता है अर्थात् जीव अपने भीतर उत्पन्न कषाय की तृप्ति विषय सेवन द्वारा करना चाहता है। राग-भाव उत्पन्न होने पर ही यह रसीले गीत सुनता है, रसीली कविताओं के सुनने में आनन्द का अनुभव करता है। सुन्दर पदार्थों के देखने की लालसा के उत्पन्न होने पर ही उन पदार्थों को देखकर अपनी विषय लालसा को तृप्त करता है। जितनी भी इच्छाएँ आत्मा में बेचैनी उत्पन्न करती है, उन सब को पूरा करने का यह जीव प्रयत्न करता है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव विषयों में पूर्ण आसक्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जहाँ प्रत्येक कार्य में अनासक्त होकर प्रवृत्त होता है, वहाँ मिथ्यादृष्टि का प्रत्येक कार्य आसक्ति के साथ पूर्ण होता है।

मिथ्याज्ञान के रहने से जीव की जो प्रवृत्ति होती है, वह मिथ्या चारित्र कहलाती है। मिथ्यादर्शन के कारण ही यह जीव पर को अपना मानता है तथा पर में ही प्रवृत्ति करता है। आत्मा के निज गुणों मे इस जीव की प्रवृत्ति नहीं होती है। विषय-लालसा, तृष्णा तथा मिथ्या-आशाओं के वशीभूत हो कर यह जीव निरन्तर विपरीत प्रवृत्तियों में आसक्त रहता है। अतः प्रत्येक जीव को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का त्याग कर आत्मा की निज परिणति का श्रद्धान, ज्ञान, और निज परिणति में प्रवृत्ति करनी चाहिये।

शृंगार कलिनीतिगेदवनिपर्दु प्काव्यके कोल्वरा ।
शृंगार कलिनीतिगळ्ककडमेये सत्काव्यदोळ् ? लोकिक ।
पोगिर्दग्गाळनेमिरत्नकुमुदेदु श्रीजिनाचार्य का-
व्यगळ्माडये मोहम मुकुतिय ? रत्नाकराधीश्वरा ॥८९॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजा लोग बहुधा यह कह कर कि वीर नीति के लिये शृङ्गार रस चाहिये, दुष्काव्य से प्रेम करते हैं। अच्छे काव्यों में वीर रस और शूर-वीर की नीति क्या कम रहती है। ऐहिक विषयों से पूर्ण श्रेष्ठ नेमिचन्द्र, रत्न, कुमुददेव और श्री जिनसेन आचार्य इत्यादि के काव्य क्या अनुराग और मोक्ष उत्पन्न नहीं करेंगे ? ॥८९॥

विवेचन—प्रायः यह धारणा लोगों में देखी जाती है कि वीर रस और नीति के परिज्ञान के लिये शृंगार रस का परिज्ञान आवश्यक है। शृंगार रस के वर्णन में तत्पर दुष्काव्यों से उनका स्नेह रहता है, वे शृंगार रस की उक्तियों को अधिक पसन्द करते हैं। नायक-नायिका के अङ्गोपाङ्गों का वर्णन, वियोग जन्य उनकी दशाओं का वर्णन तथा उनके हास-विलास और परिहास को वीरता के भाव जागृत करने में सहायक मानते हैं, पर यह नितान्त अनुचित है। सत्काव्यों में वीर रस और नीति का वर्णन बिना शृंगार के भी होता है। श्री जिनसेनाचार्य के महापुराण में वीर रस और राजनीति का वर्णन बिना शृंगार के भी कितने उत्तम ढंग से किया

गया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से प्रत्येक व्यक्ति का आचरण उन्नत हो सकता है, ऐहिक आकांक्षाएँ कम हो सकती है तथा निर्वाण पद को पाने की लालसा जाग्रत हो सकती है।

शास्त्र और काव्य को ऐसा होना चाहिये जिससे इनके अध्ययन द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने आचरण को उन्नत कर सके तथा अपने मनोबल, वचनबल और कायबल को दृढ कर सके। जिस व्यक्ति के ये तीनों बल वर्तमान है, वह व्यक्ति अपने जीवन का वास्तविक कल्याण कर सकता है। सदाचार की नीव ये तीनों बल है, मन के सबल होने से बुरे संकल्प मन में उत्पन्न नहीं होते है, विचार शुद्ध रहते है तथा हृदय मे निरन्तर शुद्ध भावनाएँ उत्पन्न होती है। हृदय के स्वच्छ हो जाने से वचन भी बुरे नहीं निकलते है। वचन शक्ति इतनी सबल हो जाती है कि सत्य के सिवा मिथ्या वाणी कभी मुख से नहीं निकलती है। हिंसक, निन्द्य, कटु और कठोर शब्दों का प्रयोग ऐसा व्यक्ति कभी नहीं करता है।

ससार के सारे कार्य वचन से चलते है। राज-काज, व्यापार आदि सभी वचनों से सम्पन्न किये जाते है, अत: वचनों के सबल होने से मनुष्य कभी ऐसी बात नहीं कहेगा जो दूसरो के दिल को दुःखानेवाली हो या किसी को हानि पहुँचानेवाली हो। वह सर्वदा

हित-मित-प्रिय वचन बोलता है, जिससे कोई भी व्यक्ति उसके वचनों से शान्ति और सुख ही प्राप्त कर सकता है। मधुर वचन हृदय को अपूर्व शान्ति देते है। हृदय गद् गद् हो जाता है तथा अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। वचन की शक्ति से वक्ता अपने श्रोताओ को मुग्ध कर देता है, वडे-वडे वादियो के गर्व चूर हो जाते हैं। अत प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने मन में बुरे विचार उत्पन्न न होने दे तथा वचन भी कभी किसीको बुरे न कहे।

ससार का सबसे बडा पाप मन की निर्वलता से ही होता है। जिसका मन निर्बल है वह डरपोक होता है, भय और आशका सर्वदा उसके सामने रहती है। कषायें ही मनुष्य के मन को सदोष बनाती है, वचनों को विकृत करती है। वासनाएँ उत्पन्न होने की भूमि भी मन ही है। सबल मस्तिष्क में अशुद्ध विचार उत्पन्न नहीं हो सकते, कमजोर हृदय के व्यक्ति जल्दी पाप करने पर उतारु हो जाते है। अतः निर्भय बनना और सत्य बोलना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

मन और वचन के वलिष्ठ होने के साथ शरीर का भी सबल होना आवश्यक है। शरीर के पुष्ट रहने से धर्म साधन में पूरी सहा--यता मिलती है। कमजोर व्यक्ति धर्म साधना नहीं कर सकता है,

अतः स्वास्थ्य के नियमों का पालन करना तथा अपने आचरण को शुद्ध रखना आवश्यक है। मन, वचन और काय को शक्तिशाली बनाने के लिये शृंगार रस का त्याग करना तथा वीर, शान्त और करुण रस को ग्रहण करना चाहिये। शृंगार रस से वासना उद्बुद्ध होती है, जिससे मन, वचन, और काय की प्रवृत्ति असन्मार्ग में चली जाती है तथा व्यक्ति संसार और स्वार्थ में ही दिनरात मग्न रहता है।

चेतोरंगदोळिट्टु निम्मडिगळ वदोलगगो ट्टोड।
प्रातःकालदरागदोळ्पददोळ पद्यगळोळ्गीणेयोळ्॥
श्रीतीर्थंकर निम्म पाडिसुते पाडुत्तळितय माडुति-
पर्ति भूपते ? पापलोपकनला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥९०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आपके चरणों को अपने मनरूपी रंग स्थल में रख कर जो व्यक्ति आपके मन्दिर में आकर प्रभात के मगल, गान, श्लोकपाठ, और वीणा से युक्त हो स्तवन करते है तथा हे तिर्थंकर ! दूसरों से आप की स्तुति कराते हैं तथा स्वय आप भी वार-बार स्तुति करते हुए आनन्द मग्न हो जाते हैं क्या वे व्यक्ति पाप को नष्ट करनेवाले नहीं हैं ? अर्थात् भगवान् की स्तुति करने से वडे से बड़ा पाप नष्ट हो जाता है। ॥९०

विवेचन-- प्रात काल उठकर भगवान् जिनेन्द्र के गुणों का स्तवन करना चाहिये। स्तवन के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को विचारना चाहिये कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या कर्त्तव्य है ? क्या मेरा धर्म है ? मुझे क्या करना है ? मै क्या कर रहा हूँ ? और अबतक मैने क्या किया है आदि; इन बातों के सोचने से मनुष्य के मन में कल्याण करने की प्रेरणा जागृत होती है। संसार के असत् कार्यों को वह निन्द्य समझता है, उसे अपने धर्म और व्रतों का परिज्ञान होता है।

प्रातःकाल भगवान् के गुणों के स्तवन से दिनभर प्रसन्नता से कार्य करने की शक्ति उत्पन्न होती है। भगवान् की स्तुति में शुद्ध

आत्मा के गुणों की चर्चा रहने से अपनी आत्मा की शुद्ध दशा भी मालूम हो जाती है। प्रभु के गुण ही तो आत्मा में वर्तमान है, यह आत्मा भी तो योग्यता के कारण प्रभु है। यद्यपि इसकी प्रभु होने की शक्ति अभिव्यक्त अभी नहीं हुई है, फिर भी अव्यक्त शक्ति तो उसमें प्रभु होने की वर्तमान ही है। अत. प्रतिदिन सवेरे ही भक्तिभाव पूर्वक भगवान् के गुणों का स्मरण सर्वदा करना चाहिये। भक्ति मे बडा भारी आकर्षण होता है, यद्यपि यह हृदय की रागात्मिका वृत्ति है, फिर भी इससे जन्म-जन्मान्तरों के संचित कर्म नष्ट हो जाते है। स्तोत्र पढने से संयम ग्रहण करने की प्रवृत्ति जागृत होती है। क्योंकि भगवान् के पवित्र गुणों का स्मरण करने से आत्मा में निजानुभूति की शक्ति आती है, जिससे परपदार्थों से ममत्व बुद्धि दूर हो जाती है। इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

भक्ति के आवेश में आकर वीणा, हारमोनियम आदि वाद्यों के साथ भगवान् की स्तुति करने मे पुण्य बन्ध होता है। हृदय में शुभराग की परिणति होने से अशुभ राग की भावनाएँ दूर हो जाती हैं। संसार की तृष्णा, माया और ममत्व दूर भाग जाते है। भक्ति से ओत-प्रोत हृदय में अपूर्व शान्ति का स्तोत्र बहने लगता है। भक्त को परम शान्ति और सुख होता है। भक्ति

की चरम सीमा बढ़जाने पर आत्मविभोर की अवस्था आती है, जिसमें भक्त सबकुछ भूल जाता है और भगवान् को भक्ति के सहारे आत्मानुभूति करता है आत्म साक्षात्कार भी प्रभु-भक्ति से हो सकता है, तथा भगवान् की स्तुति से भेदविज्ञान की प्राप्ति भी हो सकती है। भगवान् के अनन्त गुणों का वर्णन तो कोई नहीं कर सकता है, पर उनके थोडेसे गुणों के वर्णन से भी बहुत लाभ होता है। पात्र-केशरी स्तोत्र में बताया गया है--

जिनेन्द्र ! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता ।
भवत्यखिलकर्मणा प्रहतये परं कारणम् ॥
इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात् ।
स्फुटार्थनयपेशलां सुगत संविधास्ये स्तुतिम् ॥

अर्थ— हे जिनेन्द्र भगवन् ! आपके गुणों का स्तवन यदि थोड़ा भी किया जाय तो सम्पूर्ण कर्म नाश हो सकते हैं; क्योंकि आपके गुणों का चिन्तन ही तो आत्मा का चिन्तन है। इसलिये आपके गुणों के स्मरण से आत्मा के भीतरी समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं। आत्मानुभव की इच्छा पूर्ण हो जाती है। सम्य-ग्दर्शन भगवान् के स्तवन से निर्मल होता है। आत्मिक आनन्द रस का पान होता है, जिससे परम शान्ति मिलती है।

प्रत्येक श्रावक का परम कर्त्तव्य है कि वह प्रतिदिन शय्या से उठने के पश्चात् शौच आदि क्रियाओं से निवृत्त होने के पहले एकान्त में बैठकर पाँच-दस मिनट या उससे अधिक आत्म चिन्तन करे, स्तुति पढे। इसके पश्चात् नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर भगवान् के दर्शन करे, स्तुति पढ़े, पूजन करे, स्वाध्याय करे और जाप करे। घर आकर भोजन कर आजीविका अर्जन में लग जाय। सायकाल भोजन के पश्चात् सामायिक करे, भगवान् के दर्शन करे और स्तुति पढे। इस प्रकार आचरण करने से गृहस्थ का जीवन सार्थक हो जाता है।
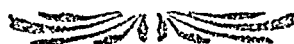
रहता है उसका वीतराग भाव बढ़ता चला जाता है। अपने सही रास्ते को वह पा लेता है, उसकी राह भी सीधी सादी होती है। इन्द्रियों की नौकरी करना वह छोड देता है, मोह का मनमोहक प्रभाव उस पर नहीं पडता, बल्कि इन्द्रियाँ उसका दास बन जाती है, मोह उसके अधिकार में आ जाता है। इस प्रकार सन्मार्ग पर चलनेवाला गृहस्थ मुनि के तुल्य है। यह अनासक्तमार्ग ही भरत का है, भरत की प्रवृत्ति राजसभा के कार्यों में इसीलिये नहीं होती थी कि वे पूर्णतया उनसे अलिप्त थे। कर्त्तव्य समझ कर ही उन्होंने राज्य किया, युद्ध किया और शत्रु एव आततायियो को रण-भूमि में परास्त किया। पर अपने एक भी कर्त्तव्य को अपनी आत्मा का नहीं समझा।

अनासक्त रहने के कारण ही भरत की प्रवृत्ति भगवान् की भक्ति की ओर अधिक रहती थी। उनका मन सर्वदा जिनेन्द्र भगवान् क गुणो मे आसक्त रहता था। आत्मपुरुषार्थ बढता जाता है, जिससे दु:खदायी राग-द्वेष नष्ट हो जाते है। अन्तरग आत्मा मे निर्मलता बढ़ती जाती है, आत्मा के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते है। कमफल चेतना---ज्ञान क सिवा अन्य अनात्मीय कार्यो का अपने को भोक्ता अनुभव करना और तद्रूप हो जाना है, भरत मार्ग में यह चेतना बिल्कुल हट जाती है। कर्मचेतना—अपने

को ज्ञान के सिवा अन्य अनात्मीय कार्यों का कर्त्ता अपने को अनुभव करना है। पुरुषार्थी जीव को इन दोनो चेतनाओं से दूर होकर ज्ञान चेतना में अपने को लगाना चाहिये। महाराज भरत के समान अपने समस्त घरेलू कार्यों को करते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति को आत्मकल्याण के लिये सतत चेष्टा करनी चाहिये। जो व्यक्ति गृहस्थ के नित्य प्रीति किये जानेवाले कार्य्यों को करता हुआ भी अनासक्त रहता है, वह अवश्य अपना उद्धार कर लेता है।

भरतग सभेगेय्दे चित्तकलुष निम्मलयक्केदे स-
त्परिणाम परिक्षेय्दुत परेयुत नेकोंडिरलूकडु त- ॥
द्भरत निम्मने पोर्दिनमृत श्रीसौख्यम निम्मनी- ।
नरसायसरेदेके नोवरकटा ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥९१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजा भरत को राजसभा की ओर जाते समय क्लेश होता था। पर जब वे आपकी सभा की ओर बढते थे तो उनके हृदय में आनन्द की वृद्धि होती थी। इस शुभ परिणाम को देख कर उन्होंने आपका ही आश्रय लेकर मोक्ष-लक्ष्मी के सुख को प्राप्त किया। राजा लोग अपने को भूलकर क्यों दुःख पाते हैं? ॥९१॥

विवेचन— कल्याण के दो मार्ग है—गृहस्थ और मुनि। गृहस्थ अवस्था में रहकर भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। घर मे रहते हुए भी जो सर्वदा अनासक्त होकर कार्य करता रहता है तथा जिसे फल की आकाक्षा नहीं और न परिणाम के बुरे या अच्छे होने से ही है विचलित है तथा कार्य करना ही जिसके जीवन का लक्ष्य रहता है और जो निरन्तर कर्त्तव्य को ही अपना सब कुछ मानता है, ऐसा व्यक्ति घर में रहता हुआ भी सन्यासी है। ससार के भोगों में जिसे आसक्ति नहीं है, भोग उपलब्ध हैं और वह गृहस्थ है अतः नियन्त्रित रूप से उनका भोग करता है। मोह और क्षोभ उसके परिणामों में बिल्कुल नहीं है। भरत के समान घरेलू कार्यों

को करता हुआ भी, उनके परिणाम से पृथक् है। लाभ और हानि, हर्ष और विषाद, जीना और मरना, जिसके लिये समान है, वह सन्यासी नहीं तो क्या है ?

सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय होकर घर के कार्यों को करता है, वह कर्त्तव्यशील कर्मयोगी रहता है। कायर या डरपोक बन कर संसार के मैदान से भागता नहीं है। भोजन करते हुए भी उसे भोज्य पदार्थ से किसी प्रकार की आसक्ति नहीं, खट्टा, मीठा, चरपरा, कसैला, तीखा आदि किसी रस से प्रेम नहीं। जो मिल गया, उसे आवश्यक समझ ग्रहण कर लिया। हाय-हाय किसी भी पदार्थ के लिये नहीं करता। सभी इन्द्रियों पर इतना नियन्त्रण हो जाता है कि आँखों से पदार्थ को देखते हुए भी लाल, हरा, पीला, नीला, श्वेत आदि किसी भी रंग की, स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श करते हुए भी कठोर कोमल, हलका, भारी आदि किसी भी स्पर्श की और नाक से गन्ध लेते हुए भी सुगन्ध एवं दुर्गन्ध किसी भी गन्ध की प्रतीति नहीं होती है। उसका उपयोग स्थिर रहता है, पदार्थों को यथार्थ जानता-देखता है, पर अनासक्त रहने के कारण स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में लीन नहीं होता।

मोह, माया, राग-द्वेष को वह अपने भेदविज्ञान से पृथक् कर देता है। जल में कमल की तरह गृहस्थी में रहता हुआ भी पृथक्

राजश्रीयोळनेककामिनियरु टाळापनृत्यगळ-
टा जिं॒ारुचियुंदु कामिसिदवेल्ला उदुउटादोडं ॥
राजीव केसरोळिदयळ्द वोलिदूर्ब्बकके करिणट्टोडा-
राज राजने ? ताने राजऋषियै रत्नाकराधीश्वरा ! ॥९२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जहाँ राज सम्पत्ति का बाहुल्य रहता है वहाँ स्त्रियाँ रहती हैं, संगीत और नृत्यवाले रहते हैं, अनेक रुचिकारक पदार्थ भी रहते हैं, किसी भी अपेक्षित वस्तु की कमी नहीं रहती। इतना होने पर भी, जिस प्रकार कीचड में रहकर कमल निर्लिप्त रहता है उस प्रकार जो राजा भोग्य वस्तुओं के बीच पद्मवत् निर्लिप्त रहता है क्या वह राजर्षि नहीं है ? ॥९२॥

विवेचन— ऐश्वर्य के प्राप्त होने पर उसे भोगते हुए भी लिप्त न होना व्यक्ति का सबसे बडा पुरुषार्थ है राज्य सम्पत्ति के प्राप्त होने या बडे वैभव के मिलने पर भोगोपभोग प्राप्त होते ही है, स्वभावतः मनुष्य की रुचि इन भोगो मे लिप्त होने की रहती है। पर जो समझदार है, जिन्हे आत्मा का कुछ परिज्ञान है वे नाना प्रकार के वैभव से युक्त रहने पर भी उसमें बिलकुल तन्मय नहीं हो जाते है कविवर बनारसीदास जी ने संसारी विषय-भोगों में अनुरक्त रहनेवाले जीव को चेतावनी देते हुए बताया है कि—

भैया जगवासी तूं उदासी ह्वै के जगत सों,

एक छः महीना उपदेश मेरो मानु रे।

और संकल्प विकल्प के विकार तजि,
बैठ के एकांत मन एकठौर आनु रे ॥
तेरो घट सर तामें तुंही है कमल ताकों,
तूंही मधुकर है सुवास पाहिचानु रे ।
आपाति न ह्वै है कछु ऐसो तूं विचार तुहै,
सही ह्वै है आपाति सरूप याही जानु रे ॥

अर्थ-- हे ससारी जीव तू ससार से उदास होकर छः महीने तक पृथक एकान्त मे निवास कर, सारे सकल्प विकल्पो को छोड़ तू विचार कर देखेगा तो तुझे अपने आप मालूम हो जायगा कि धन, वैभव, स्त्री, पुत्र ये सब पदार्थ तुझसे बिल्कुल भिन्न है। इनमे तेरा कुछ भी हिस्सा नहीं है। तू स्वय आत्माराम है, ये सारे पदार्थ जड है। तेरा हृदय तालाब है, इसमें तू स्वय कमल है तथा तू ही भवरा बनकर सुगन्ध लेनेवाला है। भिन्न पदार्थों के साथ सम्बन्ध मानलेने पर ही कुछ मिलने की आशा नहीं है। आत्म स्वरूप में रमण करने पर तथा आत्मानुभूति के रस में डुबकियां लगाने पर ही आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

आनन्द अपने स्वरूप में ही वर्तमान है, बाह्य पदार्थों से नहीं। ये बाह्य पदार्थ सिर्फ दूर से देखने पर ही अपने प्रतीत होते

है। वस्तुत: है ये अपने से पृथक् अपकारी और आत्मा को कुमार्ग की ओर लेजानेवाले। जब मनुष्य को विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, वह कषाय और वासनाओं को मन्द कर लेता है या बिल्कुल जीत लेता है, उस समय उसका कल्याण हो ही जाता है। देखा जाता है कि रागवश ही यह जीव ससार की यातनाएँ सहता है, नाना प्रकार के कष्ट सहता है और तरह-तरह के उपद्रवों का शिकार हो कष्ट प्राप्त करता है। जिस प्रकार स्नेह (तैल) के रहने से सीसी, तिल, सरसों आदि पदार्थ पेले जाते है, उसी प्रकार स्नेह (राग-द्वेष) के कारण मनुष्य भी नाना प्रकार की यन्त्रणाएँ सहन करता है। राग-द्वेष ही मनुष्य के परिणामों में अशान्ति उत्पन्न करते है, भोगों में आसक्त बनाते है।

विषयों की आसक्ति और इसके बीजभूत राग-द्वेष का त्याग करने के लिये मनमें विषय सम्बन्धी विकल्पो को उत्पन्न न होने देना, ससार के सभी प्राणियों के साथ मित्रता का भाव रखना, अपने सभी प्रकार के आचरण को मूलतः अहिंसक बनना, अनात्मीय भावों का त्याग करना, अपनी आत्मा का दृढ़ श्रद्धान् करना तथा आत्मा को संसार के सभी पदार्थों से भिन्न अनुभव करना आवश्यक है। हमारी यह आत्मा नित्य है, इसका परपदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं, इसमें विकृति हमारी स्वयं की भूल के कारण आ गयी है, इसे हम दूर कर सकते है।

अंदे तद्ने गर्भदि परर देशं लदिमसैन्यगळं ।
मुंदेनोय्वने तळ्ळा पेण्डेद् मक्कळ्गोत्त देहगळं ॥
बंदित्तोदु विनोद गोष्टियदु निम्मं मुन्नकडिर्द सै-
पिंद् मत्तमदके ता मरेवनो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥९३॥

हे ! रत्नाकराधीश्वर !

दूसरों का राज्य, सम्पत्ति और सैन्यबल क्या राजा गर्भ ही मे लेकर आता है ? और क्या यह से ना समय राजा अ नी धर्मपत्नी तथा बाल-बच्चों को साथ भी लेना जायगा ? पूर्व जन्म में जो पुण्य के दर्शन हुए उसीके प्रताप से ये सारे वैभव प्राप्त हुए; फिर उस पुण्य मार्ग को क्यों भूला जाय ? ॥९३॥

विवेचन— अपने पूर्व जन्म के पुण्य के उदय से मनुष्य राज्य, सुख, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदि को प्राप्त करता है। जन्म लेते समय खाली हाथ आता है और मरते समय भी खाली हाथ जाता है। केवल पुण्य या पाप के उदय से इष्ट या अनिष्ट सामग्री यहाँ आकर प्राप्त करता है अतः पुण्योदय से प्राप्त भोगों में लीन नहीं होना चाहिये। धन का मद करना, अन्य लोगो को अपने से छोटा या नीच समझना बड़ी भारी मूर्खता है। श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है—

भुक्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्,
सन्तर्पिताः प्रणयिनः स्वधनैस्ततः किम् ।

न्यस्त पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्,
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥
इत्थं न किंचिदपि साधनसाध्यमस्ति,
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम् ।
तस्मादनन्तमजरं परमं विकाशि,
तद्ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनास्ति ॥

अर्थ— इस जगत में जीवों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाली लक्ष्मी प्राप्त हुई और वह भोगने में आई तो उससे क्या लाभ ? अथवा अपना धन-सम्पत्ति आदि से परिवार स्नेही मित्रों को तुष्ट किया तो क्या हुआ ? शत्रुओं को सब प्रकार से परास्त कर नेस्त-नाबूद कर दिया तो इसमें कौनसी सिद्धि हुई ? शरीर निरोगी रहा और अधिक वर्षों तक स्थिर रहा तो क्या लाभ ? क्योंकि ये सर्व निस्सार और नश्वर हैं। संसार में साधने योग्य कोई भी साध्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वप्न के समान या इन्द्र-जाल के समान क्षण विनश्वर और परमार्थ से शून्य है। अतः यदि चेतना—बुद्धि है तो परम उत्कृष्ट प्रकाशरूप ज्ञानानन्द अपने आत्माराम को प्राप्त करने की वाञ्छा करनी चाहिये। इस आत्म-तत्त्व की प्राप्ति हो जाने पर समस्त अभिलाषाएं समाप्त हो जाती हैं, उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति हो जाती है।

इस आत्मा को पहचानना, इसका दृढ़ विश्वास करना और भौतिक पदार्थों में मोह-माया बुद्धि को पृथक करना ही जीव का पुरुषार्थ है। जिसमे ससार के पदार्थों की अनित्यता का निश्चय हो जाता है और जो उनमे राग बुद्धि को हटा देता है, वह अपना अवश्य कल्याण कर लेता है। जब प्रतिदिन हम देखते हैं कि मृत्यु किसी व्यक्ति को नहीं छोडती, जड-चेतन सभी पदार्थों की पर्यायें निरन्तर बदलती रहती है, फिर इन क्षणभंगुर पर्यायों के मनमोहक रूप में आसक्त क्यो होते है? प्रत्यक्ष देखने में आता है कि कल जो धनी था, जिसके द्वार पर मोटर, बग्गी आदि सवारी के साधन प्रस्तुत रहते थे, जिसका आदेश सर्वत्र मान्य था, जिसके इशारे पर बडे बडे प्रतिभाशाली विद्वान् नाचते थे जिसके धन के भाण्डार के समक्ष कुबेर भी लज्जित हो जाता था, आज पुण्योदय के क्षीण होते ही वह दीन है, भिखारी है, लोग उसे दुत्कारते है और उसकी निन्दा करते है। जो कल उसके पास बैठने मे अपना बडप्पन समझते थे, उसकी संगति के लिये लालायित रहते थे, आज वे सब उसके पास भी नहीं फटकते है, उससे घृणा करते है, उसकी सगति में अपनी तौहीनी मानते हैं। ऐसा यह ससार है और ऐसी है इस ससार की माया; फिर तुच्छ सम्पत्ति या वैभव को प्राप्त कर धर्म मार्ग को क्यों भूला जाय? धर्माचरण ही तो ससार में स्थिर है, सब कुछ बदल जाने पर भी धर्म का प्रभाव ज्यों

का त्यों रहता है। धर्म के बल से ही मनुष्य इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि पदों को प्राप्त कर लेता है। रत्नत्रय धर्म का सेवन करता हुआ संसार के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्याचारित्र को छोड देता है, जिससे निर्वाण प्राप्त करने मे भी उसे बिलम्ब नहीं होता। घर में रहता हुआ भी घर से भिन्न रहता है।

वैभव को नित्य समझ कर उसमें आसक्ति रखना तथा उसके साथ अपना सम्बन्ध मानना धर्म च्युत है। मनुष्य जब तक अपने को भूला रहता है और परपदार्थों को निजी समझता है, तब तक वह वास्तविक धर्म से दूर ही रहता है। यह वास्तविक धर्म है आडम्बर रूप क्रियाकाण्ड।

भंडार वरु वन्नमिर्पने ? वधूसंभोग दोळसाकेनल् ।
कंडॅ पोपने ? यळ्करिं पडेद राजश्रीयनेननत्यदोळ् ॥
कंडोयूद्प्पने ? नास्ति नास्ति गुरुदैवक्कोल्दु कोट्टैसु ता-
नुंडुट्टैसु तनुत्तु मत्ते वरिदैं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥९४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

क्या राजा अपने कोष को भरने के लिये ही जीता रहेगा ? क्या स्त्री-सम्भोग से कभी किसी को तृप्ति हुई है ? प्रेम से क्या लाभ हुआ ? राज सम्पत्ति क्या साथ जायगी ? कदापि नहीं । केवल गुरुजनों की सेवा में तथा देव की भक्ति में खर्च हुआ, स्वय खाया हुआ और पहना हुआ अपना समझना चाहिए, शेष सब व्यर्थ है । ॥९४॥

विवेचन— भोगों की प्रवृत्ति तथा इच्छा को काम कहते है। इस काम का मुख्य साधन धन है, धन के बिना भोग भी नहीं भोगे जा सकते है और न किसी भी इच्छा को पूरा किया जा सकता है। यह भोग-लालसा—कामप्रवृत्ति इतनी भयकर और घृणित है कि इसकी तृप्ति कभी नहीं हो सकती है । इसे जितना तृप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, यह उतना ही बढती जाती है। भोग द्वारा इसको तृप्त करने का एक भी उदाहरण नहीं मिलता है; इसकी तृप्ति सदा त्याग से ही हो सकती है । त्याग कर देने पर भोगों की नीरसता अपने-आप सामने आजाती है ।

भोगों का त्याग लक्ष्मी—धन के त्याग बिना नहीं हो सकता है। धन त्यागने की अनेक विधियाँ शास्त्रों में बतायी गयीं हैं। यहाँ पर कुछ का निरूपण किया जायगा—

१— धन, सम्पत्ति और वैभव की क्षणभगुरता का अनुभव हो जाने पर इस सम्पत्ति का त्याग किया जा सकता है। जब कोई भी व्यक्ति यह समझ लेता है कि यह धन मेरे साथ जानेवाला नहीं, यहीं रहनेवाला है; मैं व्यर्थ ही इसे अपना समझ कर ममत्व बुद्धि किये हुए हूँ तब वह इसका त्याग कर देता है। धन और काम की अनित्यता की अनुभूति हो जाने पर त्यागना कठिन नहीं। धन से प्रेम तबतक है, जबतक उसे व्यक्ति अपना समझता रहता है। जिस क्षण उसे परत्व का ज्ञान हो जाता है, मोह बुद्धि दूर हो जाती है। वह उसे अपने से भिन्न समझने के कारण अपना अपकारी मानता है।

२— जब किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से तृष्णा का अनुभव हो जाय, तो वह धन का त्याग कर सकता है। धन की लालसा असन्तोष उत्पन्न करती है, जैसे जैसे धन उत्तरोत्तर बढता जाता है वैसे वैसे व्यक्ति के मन में उसके सचय की इच्छा और अधिक बढती जाती है। जो व्यक्ति इस बात का यथार्थ अनुभव कर लेता है, उसे धन त्यागने में बिलम्ब नहीं होता। वास्तव में संसार और

भोगों की निस्सारता, अनित्यता और उसके लिये होनेवाले संघर्ष को देखकर कोई-कोई व्यक्ति धन का त्याग कर देते है। लक्ष्मी का त्याग तृष्णा और माया के मोहक रूप की वास्तविकता का अनुभव होने पर ही होता है। विरक्त और यथार्थ ज्ञाता ही इसका त्याग कर सकता है।

३— धन को पाप का कारण जिसने समझ लिया है, वह इस धन का त्याग कर सकता है। देखा जाता है कि जितना अधिक धन जिसके पास है वह उतना ही अधिक शोषण करता है। धन के होने से ही वह मर्म्यचोरी, अनाचार, दुराचार प्रभृति नाना प्रकार के पाप करता है। धनार्जन के लिये उसे असत्य भाषण करना पडता है, बेईमानी करनी पडती है, शोषण करना पडता है और भी अनेक प्रकार के पाप करने पडते है, जिससे जीव को सदा अशान्ति रहती है। इस प्रकार जो धन के यथार्थ रूप को जानलेता है, जो धन को पाप का कारण वस्तुतः समझ लेता है, वह धन का त्याग कर सकता है।

४— चारित्र मोह का उपशम या क्षय हो जाने पर जिसने संसार की वास्तविकता का अनुभव कर लिया है। धन को पाप का कारण समझ लिया है वह व्यक्ति धन का कभी भी त्याग कर सकता है। धन का त्याग करने के लिये सबसे बडी चीज परिणामों

में विरक्ति का होना है। वैराग्य भावना के रहने पर ही धन का त्याग हो सकता है।

धन के त्याग के लिये दान, पूजा, उत्सव प्रतिष्ठा आदि क्षेत्र बताये गये है। जन साधारण की भलाई जो यश प्राप्त करने की लालसा से करता है, उसके परिणामों में धनसे विरक्ति नहीं कही जा सकती। विरक्ति होने पर किसी भी प्रकार की लालसा नहीं रहती है, भौतिक पदार्थों से अरुचि उत्पन्न हो जाती है तथा परमार्थ की ओर झुकाव हो जाता है। अतः वही धन सार्थक है जिसका दान किया जाय, जो परोपकार में खर्च हो।

आवावगनेयल्लि कूडिदोडमा पाडल्लदे कडने ?।
आवावूटमनुंडोड सविगळोवेरोदनेनुंडले ?
आवावाभरणगळ तोडे लोवलुपोन्नादुदे ! कडुमी-
जीव कोणदुउंडुमें दणियदो ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥९५॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

वार-बार स्त्री-सम्भोग करने पर भी किसी नवीनता का अनुभव नहीं होता। बार-बार भोजन करने पर भी किसी रुचि विशेष की अनुभूति नहीं होती। शरीर पर सोने के गहने धारण करने पर भी अज्ञानी की तरह जीवात्मा आचरण करता है। निरन्तर आहार करने पर भी जीव विश्रान्ति को क्या प्राप्त करता है ? ॥९५॥

विवेचन--- विषयों में राग-भाव रहने से कभी विरक्ति होती ही नहीं। राग के कारण ही विषय प्रिय प्रतीत होते है। भोजन निरन्तर करते है, तृप्ति नहीं होती। यद्यपि भोजन में प्रतिदिन कोई नवीनता नहीं मालूम पड़ता है, फिर भी रागवश इच्छा उत्पन्न होती ही रहती है। विषय-वासना के सम्बन्ध में भी यही बात है, प्रति-दिन संभोग क्रिया की जाती है, पर उससे क्या किसीको तृप्ति हुई है ? राग के कारण यह जीव सदा इन्द्रियों का दास बना रहता है। इन्द्रियाँ इसे कुपथ में निरन्तर भ्रमण कराती रहती है। जब यह जीव इन्द्रियों की गुलामी स्वीकार कर लेता है तो फिर इसे सच्चाई का अनुभव नहीं होता।

अब सोचना यह है कि क्या कभी भोगो से क्षणभर को भी शान्ति मिलती है ? ये तो उत्तरोत्तर दाह उत्पन्न करते हैं, जिससे दिनरात सन्तोष के स्थान मे असन्तोष बढता जाता है। एकक्षण को भी इस जीव को शान्ति नहीं मिलती। आकुलता बढती रहती है, अनन्तानन्त विकल्प उत्पन्न होते रहते है। बाह्य परिग्रह के सचय की कामना ही इस जीव को भय, आशका, घबडाहट आदि के द्वारा कष्ट देती है। अतरग मे मूर्छा लगी रहती है, जिससे धन और भोगो के न रहने पर भी यह जीव परेशान रहता है। मानसिक कल्पना के द्वारा धन का सचय और भोगों को भोगने की क्रिया का सम्पादन अहर्निश करता रहता है। विषयाभिलाषाओ की अनियन्त्रित उत्पत्ति होते रहने के कारण दरिद्र और धनी दोनो ही दु:खी रहते है। अत प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह विषयाभिलाषा को नियन्त्रित और सयमित करने की चेष्टा करे।

परिग्रह जिसके सचय के लिये मनुष्य दिनरात चिन्तित रहता है, सब प्रकार के पाप करता है, इस जीव के लिये कष्टदायक है। जिनका मन परिग्रह मे लीन रहता है, वे उसके अर्जन, रक्षण और व्यय आदि में नाना प्रकार के पाप करते है, उनकी भावनाएँ निरन्तर उस परिग्रह में लिप्त रहती है। विषयाकाक्षा उत्तरोत्तर बढती जाती है कषायों की उत्पत्ति भी होती ही रहती है। धनाशा के

कारण इस प्राणी को नाना प्रकार के कष्ट होते है, यह आशा के पूर्ण न होने से शोक, पश्चाताप आदि करता रहता है। आशा का वर्णन आचार्य शुभचन्द्र ने निम्न प्रकार किया है। उन्होने आशा को प्राणी के लिये सबसे बड़ी विपत्ति बताया है—

यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति।
तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढी भवेत् ॥
यमप्रशमराज्यस्य सद्बोधादित्यस्य च।
विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिषेधिका ॥
आशैव मदिराऽक्षाणामाशैव विषमञ्जरी।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥
त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता।
महाव्यसनसंकीर्णश्चोत्तीर्णः क्लेशसागरः ॥

अर्थ— मनुष्य को शरीर और धन की आशा जैसे जैसे बढती जाती है, वैसे वैसे मोह की गाठ मजबूत होती जाती है। उसका मोहनीय कर्म तीव्रतर होता चला जाता है। यम, नियम, प्रशम आदि भावों को तथा सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने को आशा ही रोकती है। आशा के होने से यम, नियमो का पालन नहीं हो सकता है। सज्ज्ञान को भी आशा रोकती है। संसारी जीवों के लिये

आशा इन्द्रियों को उन्मत्त करनेवाली मदिरा है, विषय-विष को बढानेवाली लता है, समस्त दुःखों का एकमात्र कारण यह आशा ही है। संसार में आशा को दूर करने पर ही कोई सुखी हो सकता है। समस्त व्यसनों और क्लेशों का त्याग आशा के दूर करने पर ही किया जा सकता है। अत प्रत्येक व्यक्ति को झूठी आशाओं का त्याग करना चाहिये।

आशाओं के त्याग से सुख और शान्ति मिलती है हमारे दुःखी होने का एकमात्र कारण है आशा की पूर्ति न होना। जब हमारी कोई भी आशा निष्फल हो जाती है तो हमारे मन में बडा भारी खेद होता है तथा हमें जीवन में असफलता ही दिखलायी पडती है। अतएव जीवन को सुखी बनाने के लिये आशाओं के जाल बुनने का त्याग करना चाहिये।

भरतंबोल्सगर बोला दशरथंबोल् श्रेणिकंबोलुमहे-
श्वर नोहायनने दानरुचियोळ् शास्त्रार्थियःळ्सत्यदोळ् ॥
विरतिद्वां तयोळ्वंनाविक्षवदे ळ्पद्दोप्पे भाग्यं सुखा-
करमंतल्लदोडेनो दुष्करवला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥९६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जो व्यक्ति राजा भरत के सदृश दानी, राजा सगर के सदृश शास्त्र-प्रेमी, दशरथ के सदृश सत्यवादी, श्रेणिक के सदृश व्रतधारी तथा सहिष्णु और राजा भोगायन के सदृश पूजा रूपी वैभव में आसक्त होगा वह सुख-सम्पत्ति को अवश्य प्राप्त करेगा। जो लोग वैसे नहीं होंगे वे तो दुःख के ही आदि स्थान होंगे। ॥९६॥

विवेचन— दान करना, शास्त्र स्वाध्याय करना, सत्य वचन बोलना, व्रतों का पालन करना, कष्ट सहिष्णु बनना और स्वार्थ का त्याग कर निष्काम कर्म करते जाना ही मानव जीवन का ध्येय है। जो व्यक्ति अपने इस ध्येय को पूरा करता है, वह अपना कल्याण कर ही लेता है। जीवन में जब तक भौतिकता रहती है, खाना-पीना और आनन्द करना यही जीवन का ध्येय रहता है, तब तक शान्ति मिल नहीं सकती। परोपकार करना लौकिक दृष्टि से जीवन का एक उच्च ध्येय है।

प्रत्येक व्यक्ति को दान अवश्य करना चाहिये, इससे जीवन में मोह कम हो जाता है, भावनाएँ परिष्कृत और विशुद्ध हो जाती

है। घर और विषयों की आसक्ति कम हो जाती है, तथा व्यक्ति स्वार्थ के संकुचित दायरे से हट कर परोपकार के विस्तृत क्षेत्र में पहुँच जाता है। स्वाध्याय करना तो मानव जीवन के लिये बहुत ही आवश्यक है। जो प्रतिदिन ज्ञानार्जन करता है, वह संसार के विषयों की मृगतृष्णा से बच सकता है। स्वाध्याय सबसे बड़ा तप है, क्योंकि जितने समय तक स्वाध्याय किया जाता है, उतने समय तक परिणाम विशुद्ध रहते हैं। भावनाएँ पवित्र बनी रहती हैं, मन में एकाग्रता आती है, विषयों से अरुचि उत्पन्न होती है तथा भौतिकता की निस्सारता प्रतीत होती है।

ज्ञान के समान संसार में कोई बड़ा पदार्थ नहीं है; क्योंकि ज्ञान ही लोक परलोक और आत्मा-परमात्मा का यथार्थ स्वरूप अवगत कराता है। सच्चे ज्ञान का एक कण भी इस जीव के लिये महान् उपकारी हो सकता है, एक छोटी-सी बात भी इस जीव को ऊँचा उठा सकती है। इसलिये महापुरुषों ने स्वाध्याय को संसार सागर से पार करने के लिये नौका बताया है, कषाय वन को दग्ध करने के लिये दावानल कहा है। स्वाध्याय से भेदविज्ञान होता है, क्योंकि विषयों से अरुचि इसीसे हो सकती है। तत्त्वचर्चा, प्रथमानुयोग, करणानुयोग आदि का ज्ञान इस जीव को शान्ति प्रदान करता है राग, द्वेष, मोह प्रभृति विकारों का सबसे बड़ा इलाज

वीतराग प्रभु के वचन हैं, इन वचनों की प्राप्ति शास्त्र ज्ञान से ही हो सकती है। स्वाध्याय का रस आजाने पर सारी आकुलता दूर हो जाती है, वस्तु का यथार्थ मर्म मालूम हो जाता है। अनादि-काल से चली आयी कर्म कालिमा स्वाध्याय से दूर हो सकती है। सम्यग्ज्ञान के मिल जाने से इस जीव को सब प्रकार से सुख और शान्ति मिलती है। आत्मा की विभाव परिणति का ज्ञान हो जाता है, परपदार्थों का लिप्सा हट जाती है। रागादि का उपशम होने से जीव की अनेक उलझनें स्वाध्याय से दूर हो जाती है।

स्वाध्याय को तप इसलिये माना गया है कि कोई भी व्यक्ति शास्त्र पठन में अपने मन को एकाग्र कर कर्मों की अधिक से अधिक निर्जरा कर सकता है। उपयोग को स्थिर करने के लिये स्वाध्याय से बढ़कर दूसरा कोई अन्य साधन नहीं है। इसका महत्व इसीलिये विशेष है कि वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने से पर परिणति को दूर किया जा सकता है। अन्तरंग और बहि-रंग परिग्रह की मूर्च्छा दूर करने के लिये यह रामबाण है। व्यक्ति को कर्त्तव्य निष्ठ यही बना सकता है। अतः प्रत्येक स्त्री-पुरुष को प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। यदि जीवन में दो-चार शब्द या बातें भी यथार्थ जान लीं तो फिर कभी न कभी कल्याण करने का अवसर मिल ही जायगा। शास्त्र स्वाध्याय से चारित्र की भी प्राप्ति होती है।

सत्य वचनो का भी जीवन में बडाभारी महत्व है। जो सत्य बोलता है, उसकी वाणी में बडी भारी शक्ति आ जाती है। वचनों का प्रभाव अन्य लोगों पर जादू जैसा पडता है, आत्मा की शक्ति का विकास हो जाता है। अहिसा व्रत की रक्षा भी सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह व्रतो से ही हो सकती है। अत प्रत्येक व्यक्ति को व्रतों का पालन यथाशक्ति करना चाहिये।

वास्तव में व्रतों का सम्बन्ध आत्मज्ञान और चारित्र से है। व्रती व्यक्ति अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ चारित्र के प्राप्त करता है; क्योंकि सम्यग्दर्शन हो जाने से आत्मविश्वास तो पहले ही आ-गया है, अब केवल विवेक और चारित्र को प्राप्त करना है। यह कार्य व्रतो से पूर्ण होता है। गृहस्थ अणुव्रतों के द्वारा आशिक चारित्र का पालन करता है और मुनि महाव्रतों के आचरण द्वारा पूर्ण चारित्र को प्राप्त होता है। अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को भी व्रतों का पालन करना चाहिये। व्रतो के पालन से जीवन में सयम आता है तथा जीवन व्यवस्थित होता है। व्रतों के अभाव में जीवन पशुवत ही समझना चाहिये।

उळियि गेय्यद चैत्य मदिरदोळिट्टो योगिगळ्तारदा-
जळदि तेयद गधदिं तोळेयदे नादक्किर्यिदेत्तदा ॥
तळिर्पूविदडदन्नदि सुडददीपोद्धूपदिं कोय्यदा
फळदिंदर्घ्यदे निम्मनर्चिपरहो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥९७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

विधिवत् आपकी मन्दिर में प्रतिष्ठा कर न लाए हुए पानी से, न घिसे हुए चन्दन से, पानी मे नही धोये हुए अक्षतो से, न तोडकर लाए हुए पुष्पो से, न पकाये हुए अन्न (नैवेद्य) से और तोडकर न लाये हुए फलो और अर्घो से त्यागी आपकी पूजा करते है, यह कितना आश्चर्य-जनक है ! अर्थात् भावपूजा द्वारा भी त्यागी पुरुष अपना कल्याण करते हैं। ॥९७॥

विवेचन--- पूजा दो प्रकार की होती है—भावपूजा, और द्रव्य पूजा। अष्टद्रव्यो से भगवान् की पूजा करना भाव पूजा है तथा बिना द्रव्य के स्तोत्र पढना एव भगवान् के गुणों का चिन्तन करना भावपूजा है। द्रव्यपूजा में आठों द्रव्यों का आधार रहता है, जिससे पूजक अपने मन को स्थिर कर सकता है। सुन्दर पूजा द्रव्य को चढाते समय पूजक के मन में अपार हर्ष होता है उसका मन भग-वान् के गुण-चिन्तन में रम जाता है। आत्मा की महत्ता, उसके शुद्ध गुण एवं संसार परिभ्रमण के कारण उसके समक्ष स्पष्ट होने लगते है। इस संसारी जीव को भगवान् की पूजा संसार से पार

करने के लिये नौका के समान है, क्योंकि पूजक को उपासना द्वारा अपनी आत्मा का साक्षात्कार होता है। पूजक दीनता की भावना का अनुभव नहीं करता, बल्कि अपने को योग्यता की दृष्टि से परमात्मा समझता है।

भगवान् की पूजा बिना द्रव्य के भी हो सकती है। जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्यों की भावपूजा के लिये आवश्यकता नहीं। भावपूजा केवल भगवान् के गुणों का चिन्तन और मनन करने से ही हो सकती है, इसमें भावनाओं का अवलम्ब बाहिरी द्रव्य नहीं होता, किन्तु स्वयं अपनी भावनाएँ ही अवलम्ब पड़ती हैं। पञ्च परमेष्ठी, जोकि आत्मा के परिणमन की पांच अवस्थाएँ हैं, उनके गुणों का चिन्तन करके कल्याण करना है। अर्हन्त भगवान् में चार घातियों कर्म नहीं हैं, उनके दिव्य उपदेश से ही संसार के प्राणी सुख और शान्ति प्राप्त कर सकते हैं, संसार का सन्ताप उन्हीं के दिव्य उपदेश से शान्त हो सकता है। प्रत्येक जीव में परमात्मा बनने की योग्यता है, उद्यम कर कोई भी व्यक्ति इस पद को प्राप्त कर सकता है। भावपूजा में आत्मानुभूति प्राप्त करने का अधिक अवसर मिलता है। भगवान् के दर्शन से, स्तवन से और उनके भावपूजन से आत्म-प्रतीति नहीं हुई तो सब विडम्बनाएँ हैं।

पूजन काल में शुभोपयोग रहता है, पाप या बुरी वासनाएँ उतने काल तक आत्मा में नहीं आने पाती है। पूजक की भावनाओं में इतनी शुद्धि आ जाती है जिससे पुण्य का बन्ध होने से लौकिक दृष्टि से भी प्राणी को दीनता, रोग, शोक, निर्धनता आदि बातें नहीं सताती है। चित्त में भगवान् के दर्शन, स्तवन और पूजन से अपूर्व शान्ति मिलती है। आत्मा अनुभूति के रस से भर जाती है। पर पूजन के समय दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—निष्काम—फल की आकांक्षा के बिना पूजन करना और उपयोग—मन, वचन, और काय को स्थिर कर पूजन करना। यदि फल की आकांक्षा से या किसी कार्य को पूरा करने की आकांक्षा से पूजा की जायगी तो कर्तृत्व भाव का आरोप हो जाने से अथवा निदान बाँधने से सम्यक्त्व विशुद्ध करने के स्थान में मिथ्यात्व का पोषण होगा। पूजा करने का जो वास्तविक ध्येय है, उसकी सफलता नहीं हो सकेगी। पूजन का फल अचिन्त्य होता है, थोड़े से फल की आकांक्षा कर उसकी सीमा निर्धारित कर देना कितनी बड़ी मूर्खता है। कल्पवृक्ष को प्राप्त कर उससे भी चने की सूखी रोटियाँ मागनेवाले के समान फल की आकांक्षा कर पूजा करनेवाला है। अतः सर्वदा भाव पूर्वक शुद्धि के साथ भगवान् की पूजा निष्काम होकर करनी चाहिये।

पूजा करते समय उपयोग को स्थिर रखना भी आवश्यक है, उपयोग के स्थिर न रहने से पूजा करने में आनन्द, शान्ति और रस नहीं आ सकते हैं। पूजा करने का रहस्य मर्म एकाग्र चित्त वाला ही जान सकता है। जिसका चित्त बन्दर के समान चंचल है, वह पूजा से क्या शान्ति प्राप्त करेगा ? मन, वचन और काय के स्थिर हो जाने से पूजा द्वारा ध्यान की सिद्धि भी की जा सकती है। चंचल इन्द्रियां और मन को सरलता पूर्वक विजय की जा सकती है। त्यागी आरम्भ और परिग्रह छोड़ देने के कारण भाव-पूजा करते है।

आवं माडिद भावपूजे यिनवगोर्वंगे लेसल्लिगा।
सावद्य रहित समतु सुजनसद्वस्तुविंपूजिसल्॥
सावद्य कळेयल्के तीरदोडमें तत्पूजेय कंडु के-।
ळ्देवेळ्वे पलरुं सुखबडेयरे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥९८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार किसी योगी को भावपूजा करने से श्रेय या कल्याण मिलता है उसी प्रकार श्रेष्ठ पदार्थों से जो सत्पुरुष पूजा करते है उनका पूजा से उत्पन्न अल्प दोष दूर हो कर महान् कल्याण होता है। पूजा से उत्पन्न होनेवाले अल्प दोष यदि दूर न होते तो तो पूजा करनेवाले सभी सत्पुरुषो को देख-सुन कर क्या कहा जाए ! क्या वे लोग सुख को प्राप्त नहीं करेंगे ? ९८॥

विवेचन — त्यागी-व्रती पुरुष भगवान् की भावपूजा करते हैं, क्योंकि इस पूजा मे पूजन सामग्री से उत्पन्न होनेवाली हिंसा नहीं होती है। राग-द्वेष का विनाश होकर चित्त मे एकाग्रता उत्पन्न हो जाती है। भावपूजा बडी भारी कल्याणकारी है, अन्तरग के निर्मल होने से रत्नत्रय की प्राप्ति प्रकट हो जाती है। भक्त को मोक्षमार्ग भक्ति के बल से मिल ही जाता है। भावपूजा के समान द्रव्य-पूजा करनेवालों को भी फल मिलता है। यद्यपि द्रव्यपूजा करने में आरम्भ जन्य पाप होता है। भक्त अपने भावो को स्थिर रखने के लिये सुन्दर पूजा के उपकरण, जल-चन्दन आदि सामग्री एक-त्रित करते है तथा वाद्य एकत्रित कर मधुर स्तुति पढते है। इन

कार्यों में एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा होती है, पर पूजा के फल के सामने वह नगण्य है। पूजा करने से भावों की महान् विशुद्धि होती है, जिससे पुण्य का बन्ध होता है। यह पुण्य समुद्र के समान है और यह आरम्भ जन्य हिंसा एक कणिका के समान है, अत: पुण्य की अधिकता रहने से हिंसा जन्य पाप नगण्य है।

जहाँ लाभ अधिक होता है और हानि कम होती है, वहाँ बुद्धिमानों को वह कार्य गुणरूप ही मालूम होता है। महान् लाभ के लिये थोडी हानि भी सहन की जाती है। पूजन प्रारम्भ करते समय यत्नाचार तथा दयाभाव से व्यवहार करते समय कुछ अल्प हिंसा हो भी जाय तो उसकी कोई गणना नहीं है। यह हिंसा भी इतनी कम होती है कि महान् पुण्य के साथ बन्धने पर पुण्य रूप ही दिखलायी पडती है। जैसे मीठे जल के समुद्र में एक डली नमक की डाल देने पर भी उस समुद्र के जल का रस मीठा ही रहता है, खारी नहीं होता; इसी प्रकार महान् पुण्य के साथ अल्प पाप का बन्ध होने पर भी उसका कुछ प्रभाव नहीं होता है जो श्रावक आरम्भी हिंसा के भय से द्रव्यपूजा नहीं करना चाहते है, वे बड़ी गलती करते है; क्योंकि भावपूजा में मन अधिक समय तक स्थिर नही रह सकता है। जैसे बिना बाजे के गवैया का मन नहीं लगता है, उसी प्रकार द्रव्यादि सामग्री के बिना मन अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाता है।

द्रव्यपूजा मे समय, भावपूजा की अपेक्षा अत्यधिक लगाना पडता है, जिसमे अधिक समय पुण्यार्जन के लिये मिलता है। परिणामों की उज्ज्वलता यों तो भावपूजा मे ज्यादा होती है, पर इसमें परिणाम अधिक देर तक नहीं लग सकते है। जब तक श्रावक के मन में इतनी दृढता और विरक्ति नहीं आती, जिससे वह अपने मन को किसी एक ही विषय में अधिक समय तक लगा सके, तब तक उसे द्रव्यपूजा ही करनी चाहिये। मन की चचलता को रोकने के लिये ही पूजा, पाठ, स्वाध्याय और सामायिक आदि क्रियाएँ बताया गयी है। इन क्रियाओ मे मन की चचलता के साथ-साथ राग-द्वेप की प्रवृत्ति भी रुकती है। गृहस्थ धर्म के वर्णन में आचार्यों ने कहा है कि सुन्दर शिखर-बद्ध मन्दिर बनवाना, मन्दिर में मूर्ति स्थापित करना, प्रतिष्ठा करना, भगवान् की प्रतिदिन पूजा करना ये गृहस्थ के कर्त्तव्य है। इन कार्यों से धर्म तो होता ही है साथ ही कीर्ति भी मिलती है, अतएव प्रत्येक श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार अपने धन का सदुपयोग करना चाहिये, उसे भगवान् की पूजा, प्रतिष्ठा में धन का व्यय अवश्य करना चाहिये।

उदासीन, त्यागी, व्रती भावपूजा करते है, उनका कल्याण उसके द्वारा होता है, पर गृहस्थ द्रव्यपूजा से भी अपना उतना ही कल्याण कर सकते हैं जितना उदासीन भावपूजा से करते हैं।

मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी पूजक जल्द बन सकता है। नित्य प्रति पूजा करनेवाले की भावनाएँ विशुद्ध होती रहती है, जिससे उसे कल्याण करने की प्रेरणा सहज रूप में मिलती रहती है। पूजा करने से पुण्य का सचय होने से अनायास मोक्ष का द्वार मिल जाता है।

अभिप्राय यह है कि पूजा रागाश होने पर भी कर्मबन्धन को नाश करने मे कारण है। जितने काल तक गृहस्थ पूजा करता है, उतने समय तक वह अनात्मिक भाव—विकार और कषायो से दूर रहता है। अत मन को एकाग्र करने में सहायक होने से भगवत् पूजा जीवन के उत्थान के लिये आवश्यक है। हाँ जिनका मन पूजा करते समय भी इधर-उधर भटकता रहे उन्हे पहले मन को स्थिर करने का ही उपाय करना चाहिये। पूजन के समय चित्त में शान्ति रखना तथा कषायों का अविर्भाव न होने देना नितान्त आवश्यक है।

मुनिगळ्माडुव भावपूजेरुचियो ? सद्भव्यसतानव-
र्चनेगेयवुत्तमवस्तुपूजेरुचियो ? पेळव्य नीनेके सु- ॥
म्मनेयिर्पैयिदरदम तिळिदेने निष्कांक्षक नीनवर् ।
मनसं निम्मोळिडल्के साधिपरला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥९९॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

क्या आपको मुनियों द्वारा भावपूर्ण पूजा इष्ट है ? क्या भव्य लोगों के द्वारा श्रेष्ठ पदार्थों से होनेवाली पूजा आप को इष्ट है ? हे भगवन् ! कहो !! क्यों नहीं तुम बोलते !!! मैंने इसका रहस्य जान लिया। आप इच्छा रहित है। भव्य लोग आपके अन्दर अपने मन को लगाने के लिये ये नाना विध साधन करते है। ॥९९॥

विवेचन-- साधक भावावेश में आकर भगवान् से प्रश्न करता है कि हे प्रभो ! आपको द्रव्यपूजा इष्ट है या भावपूजा ? आप कौनसी पूजा पसन्द करते है ? साधक के इस प्रकार के प्रश्न को सुनकर भी जब वीतरागी प्रभु ने कोई उत्तर नहीं दिया तो साधक पुनः झुंझलाकर कहने लगा—प्रभो ! आप क्यों मौन है ? क्या आप भक्तों की बात का उत्तर नहीं देते है ? इस प्रकार नाना तरह के संकल्प-विकल्प उत्पन्न होने के अनन्तर स्वय साधक कहने लगता है कि हे प्रभो ! आप इच्छा रहित है, आप किसीसे पूजा, प्रतिष्ठा नहीं चाहते है। भक्त केवल अपनी भावनाओं को विशुद्ध करने के लिये पूजा करता है। आप में राग-द्वेष नहीं है, अत आपके

पूजातत्रदे वस्तुव नेनेयुत मत्तं समंत्राक्षर-
श्राजव्वानमनालिसुत्ते तव विवस्नानम नोडिना-
नाजीव सुखियक्कुमल्लि वहिरंगाळोचन मोचनं।
पूजार्थं पुरुपार्थमाढुददरि रत्नाकराधीश्वरा! ॥१००॥

'हे रत्नाकराधीश्वर!

पूजा करने के सिलसिले में, पूजा द्रव्य को स्मरण करते हुए, अच्छे मन्त्र में रहनेवाले बीजाक्षर के स्पष्ट शब्द को सुनते हुए और आपके प्रतिविम्ब के अभिषेक को देखते हुए अनेक प्राणी सुख को प्राप्त होते हैं। उस पूजा के स्थान में बाहर के पदार्थों का सोचना छूट जाता है। छूट जाने के कारण पूजा के फल, स्वरूप अर्थ, धर्म, काम और पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है ॥१००॥

विवेचन— इस पद्य में कवि ने पूजा की महत्ता का वर्णन किया है। यद्यपि पूजा की महत्ता पिछले कई पद्यों में विस्तार से दिखलायी गयी है, फिर भी श्रावक के कर्त्तव्यों का बार-बार स्मरण कराने के लिये पूजा के फल का विवेचन किया गया है। प्रारम्भिक साधक के लिये भगवान् की पूजा बड़ी भारी उपकारी है। जब तक मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं हुआ है, वे विषय-कषायों की ओर चक्कर लगा रहे हैं, तब तक पूजा ही इन संसार के पाप कार्यों से बचा सकती है। पूजा करने से मन में बड़ी शान्ति होती है, मन, वचन और काय सबल होते हैं तथा अपने स्वरूप की प्रतीति होने से सांसारिक विषयों से अरुचि होती है।

पूजा करने से उपयोग स्थिर रहता है, क्योंकि उपयोग को स्थिर करने के लिये अनेक साधन पूजक के सामने रहते है। वह सुन्दर सुन्दर पद्यो को पढ़ता है, मन्त्र बीजो का उच्चारण करता है, सुन्दर पूजा सामग्री को देखता है तथा श्री जिनेन्द्र भगवान् के मनोहर बिम्ब को देखता है जिससे उसका मन स्थिर होता है। मन में अन्य सासारिक विकल्प उत्पन्न नहीं होते है। वितरागी प्रभु की सुख मुद्रा को देखकर अपार आनन्द पूजक प्राप्त करता है।

ससार सागर से सहज पार करने का उपाय एकमात्र भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा ही है। भगवान् की पूजा करने से सम्यग्दर्शन गुण तो विशुद्ध होता ही है, साथ ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की भी प्राप्ति होती है। पूजा करना, दर्शन करना, स्तोत्र पढ़ना प्रत्येक श्रावक का दैनिक कर्त्तव्य है, जो अपने इस कर्त्तव्य को नहीं करता है, वह श्रावक पतित है।

आत्मा का उद्धार तभी हो सकता है जब ससार से विरक्त हुआ जाय। जब तक विषयों की ओर प्रवृत्ति रहेगी अनुभवानन्द नहीं आ सकता। मन निरन्तर इधर-उधर विषयों का रस पान करने के लिये मधुलोभी भ्रमर की तरह उडता रहता है। भ्रान्तिवश असन्मार्ग का अनुसरण कर यह प्राणी अपना सर्वनाश अपने हाथों से करता रहता है।

लिये न कोई वस्तु प्रिय है और न अप्रिय। वीतरागी की दृष्टि में सर्वदा समता रहती है। वह किसीसे न प्रसन्न होता है और न किसी से नाराज। उसके लिये सभी समान है, अतः हे प्रभो! हम अपनी भावनाओं को पवित्र करने के लिये आपकी स्तुति और पूजा करते है। जो प्रतिदिन भगवान् की पूजा करता है, उसकी आत्मा में विशुद्धता और पवित्रता आती जाती है।

यद्यपि वीतरागी प्रभु पूजा से न सन्तुष्ट होते हैं और निन्दा करने से असन्तुष्ट, परन्तु पूजक और निन्दक को अपनी करनी का फल अवश्य मिल जाता है। भावनाएँ जैसी विशुद्ध या अपवित्र रहती हैं, कर्मों का बन्ध भी वैसा ही होता जाता है। पात्रकेशरी स्तोत्र में कहा गया है—

ददास्यनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि,
क्षिपस्य कुपितोऽपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ।
न चेश! परमेष्ठिता तव विरुद्धयते यत् भवान्,
न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम्॥

अर्थ—हे भगवन् जो आपकी स्तुति करते है, उनको आप प्रसन्न हुए बिना भी अनुपम सुख दे देते है और जो आपकी निन्दा करते हैं उनको क्रोध न करते हुए भी दुर्गति में डाल देते हैं। हे प्रभो! इन बातों के होने पर भी आपके परमेष्ठी पद में कोई विरोध

नहीं आता है, क्योंकि आप सर्वदा वीतराग स्वभाव में लीन रहते हैं आप न कभी किसीके ऊपर क्रोध करते है और न किसीके ऊपर प्रसन्न होते है। आप सृष्टिकर्त्ता भी नहीं है, जिससे किसीको सुख या दुःख दें। बात यह है कि निन्दा या स्तुति करनेवाला अपनी भावनाओं के अनुसार स्वयं ही बुरा या अच्छा फल पा लेता है। मनुष्य के जैसे परिणाम रहते है, वैसा ही शुभाशुभ का बन्ध होता है, और उदय आने पर फल भी उसीके अनुसार मिल जाता है। अतः भगवान् किसीको कुछ नहीं करते है, मनुष्य स्वयं अपने आप ही सब कुछ बन जाता है'

भगवान् की पूजा करने का रहस्य भावनाओं का परिष्कार करना है, मन के विचारों को पवित्र बनाना है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषायें, जिनके कारण यह प्राणी निरन्तर अपने आचार से भ्रष्ट होता रहता है, विवेक को भूल जाता है और वासनाओं के आधीन होकर आत्मविपरीत कार्य करता है, पूजा करने से दूर हो जाता है। आत्मानुभूति उत्पन्न करने का एक साधन पूजन भी है। यह अत्यन्त सरस और सरल है, भक्ति की ओर मनुष्य का झुकाव स्वाभाविक होता है। प्रभु-भक्त जिनेन्द्र के गुणों के चिन्तन से अपने भीतर परिमित शक्ति का अनुभव करता है तथा अपनी आत्मा को शुद्ध करने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

भगवान् की पूजा इस पचम काल मे कल्पद्रुम है, क्योंकि ध्यान करने के लायक सहनन नहीं है तथा मन, वचन और काय भी इतने कमजोर है जिसमे उत्तम ध्यान का होना संभव नहीं। शरीर के कमजोर होने से परिषह सहन करना भी सभव नहीं। कुछ ही लोग अपने कल्याण के लिये सयम की खड्ग धार पर चल सकते हैं। सर्वसाधारण के लिये सयम का मार्ग सुखकर नहीं हो सकता है। अतः कोई भी व्यक्ति आसानी से भगवान् की पूजा कर अपनी भावनाओ को पवित्र कर सकता है। मन को वश करने के लिये तथा विषयो का त्याग करने के लिये पूजा बडी ही सहायक है। इसके द्वारा मन को स्थिर किया जा सकता है, भीतर के मोह को जीता जा सकता है और आत्मानुभूति को प्राप्त किया जा सकता है। अत· प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन भगवान् की पूजा अवश्य करनी चाहिये।

उपहारं स्तवनं सुवाद्यनिनदं नृत्यं सुगीतगळि-
तुपचारंगळिवैसे निम्मरुचिये अल्तल्तु निम्मळि मु- ॥
क्तिपदं स्वल्पमे वृद्धिवृद्धि धानकगोंदित्तेरळ्कोबुद-
कुंपमानमिंगे काण्केयेंदु कुडरे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१०१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्तोत्र, उत्तम वाद्य, गाजा-बाजा, नृत्य, श्रेष्ठ गान आदि बातें क्या आप को इष्ट है ? नही, नही। आप मे क्या मोक्ष-पद की कमी है ? यह तो इस प्रकार है कि अधिक सम्पत्तिवाले को एक देकर दो ग्रहण करने के लिए भेंट दी जाय अर्थात् भक्त अपनी भक्ति प्रदर्शित कर स्वयं अपनी भावनाओं को उन्नत बनाता है। ॥१०१॥

विवेचन— पूजन करने, स्तोत्र पाठ करने तथा भगवान् के सामने नृत्य आदि करने से भगवान् प्रसन्न नहीं होते क्योंकि वीत-रागी होने के कारण वे तो सबसे उदासीन है। भक्त केवल अपनी आत्मा को पवित्र करने के लिये भगवान् की पूजा, प्रतिष्ठा आदि करता है। पर इतना सुनिश्चित है कि भक्त की सारी मनोकाम-नाएँ भगवान् की पूजा से पूरी हो सकती है। कविवर बनारसी-दास ने पूजा का फल बताते हुए लिखा है—

ज्यौं नर रहै रिसाय कोपकर; त्यौं चिन्ता भय विमुख बखान।
ज्यौं कायर शंकै रिपु देखत; त्यौं दरिद्र भाजै भयमान ॥
ज्यौं कुनारि परिहरै खंडपति, त्यौं दुर्गति छंडै पहिचान।

हितु ज्यों विभौ तजै नहिं संगत; सो सब जिनपूजा फलजान ॥
जो जिनेन्द्र पूजै फूलनतों; सुरनैनन पूजा नित होय ।
वंदै भावसहित जो जिनवर; वंदनीक त्रिभुवन मैं सोय ॥
जो जिन सुजस करै जन ताकी; महिमा इन्द्र करैं सुर लोय।
जो जिन ध्यान करत बनारसि; ध्यावै मुनि ताके गुण जोय॥

अर्थात्— जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने से चिन्ता, भय, शोक इस प्रकार भाग जाते हैं, जैसे क्रोध करने से मुख की शान्ति। दुःख और दरिद्रता इस प्रकार हट कर अलग हो जाती है जैसे शत्रु को देखते ही कायर डर कर रणक्षेत्र से भाग जाते हैं। भगवान् की पूजा करने से दुर्गति इस प्रकार दूर हो जाती जैसे दुष्ट स्त्री अपने प्रेमी को छोड़ देती है। ससार के सभी प्रकार के सुख प्रभुपूजा से प्राप्त होते हैं। यह आध्यात्मिक और लौकिक सभी प्रकार की सिद्धियों को देती है, इसके समान सुखदायक और कोई साधन नहीं है। भगवान् का पूजक कभी दीन-दरिद्र नहीं हो सकता है। चिन्तामणि रत्न के समान सभी इच्छाओं को यह पूरा करती है।

जो भगवान् की पूजा पुष्पों से करता है, उसे इस जन्म में तो अपार सुख शान्ति मिलती ही है, पर मरने पर देवलोग उसकी पूजा करते है, दर्शन करते हैं। भावसहित भगवान् की पूजा कर-

नेवाले को किसी बात की कमी नहीं रहती है, वह तीनों लोकों में वन्दनीक होता है। जो जिनेन्द्र भगवान् की कीर्ति का गान करता है, उसका यश मनुष्य की तो बात ही क्या, देवलोग गाते है तथा जो जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान करता है, वह इतना पुण्यात्मा बन जाता है कि उसका ध्यान मुनि करते है। अभिप्राय यह है कि पूजा के समान सुख देनेवाला ससार में अन्य पुण्य कार्य नहीं है।

भगवान् की पूजा में वह बिजली की शक्ति वर्तमान है, जिससे भक्त के हृदय का कोना-कोना आलोकित हो जाता है, उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, बिना मागे अपने आप मिल जाती है। प्रतिदिन पूजा करने में जो असमर्थ है, उसे भगवान् के दर्शन तो अवश्य करने चाहिये। क्योंकि प्रभु के सामने पहुँचने पर आत्मा के स्वरूप को समझने में बडी भारी सहायता होती है। फल प्राप्ति की आकाक्षा से या किसी ग्रह के दुष्प्रभाव को दूर करने के निदान को लेकर पूजा करने से मिथ्यात्व का दोष आता है। वीत-रागी प्रभु ससार के कर्त्ता नहीं है, फिर उनके लिये इस प्रकार की कल्पना करना मिथ्यात्व है। अचिन्त्य आत्म शक्ति पर विश्वास न कर मन में भय उत्पन्न करना मिथ्यात्व नहीं तो और क्या हो सकता है। सम्यग्दृष्टि भय नहीं करता, उसके मन में अपनी आत्मा के प्रति अटल विश्वास रहता है। अतः पूजन में मिथ्यात्व से सदा बचना चाहिये।

मोक्षश्रीसुखविश्वनाथनिवनेंदारोपिसल्पूजेयोळ्
यक्षादिक्प्रभुगळ् ग्रहतिथिनरर्नागसुर व्यंतरर् ॥
नक्षत्रसुनिगळ्सुमंत्रविधिथि सन्मानिसल्पट्टरी-
दाक्षिण्य भजकगदेन कुडदो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१०२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

"यह मोक्ष लक्ष्मी के सुख के लिये सर्वाधिकारी है" ऐसा सोचकर पूजा के समय चिन्तन करने से यक्ष देवता, दिक्पाल नवग्रह, तिथिदेवता, नागदेवता कल्पवासी देवता, व्यंतर देवता, नक्षत्र एवं ज्योतिर्देवताओं की श्रेष्ठ मंत्र के विधान से भक्तों द्वारा अर्चा और सत्कार किये जाने पर सभी प्रकार के इष्ट पदार्थ मिलते हैं। ॥१०२॥

विवेचन-- वीतरागी प्रभु की पूजा करने पर आत्म-शुद्धि आती है तथा अधर्म रूप विकारों की ओर से प्रवृत्ति हटती है, जिससे कोई भी व्यक्ति आंशिक स्वतन्त्रता प्राप्त करता है तथा अपने स्वरूप में लीन होने का प्रयत्न करता है। बात यह है कि जीव का स्वरूप स्वतः धर्ममय है, जब कोई व्यक्ति इस स्वरूप से विचलित हो जाता है तो वह अधर्म की ओर जाता हुआ माना जाता है। पूजा, अर्चा, स्वाध्याय आदि बातों का एकमात्र उद्देश्य यही है कि आयी हुई अधार्मिक प्रवृत्तियों को दूर किया जाय। क्योंकि स्वभाव च्युति ही तो अधर्म है। वीतरागी प्रभु की पूजा करने से समस्त सुख सामग्रियों की प्राप्ति इसलिये होती है कि जीव अपने स्वभाव में कुछ समय तक स्थित रहता है। यद्यपि पूजा से स्वभाव

की प्राप्ति सीधे रूप से नहीं होती है, पर उसके द्वारा शुभ-रागात्मक शुद्धि आने से परम्परा से स्वभाव की प्राप्ति होती है।

पूजा को जीव के लिये हितकारी इसीलिये माना गया है कि वह आत्मशुद्धि में सहायक है। आत्मोत्थान की भूमिका इसके द्वारा सम्पन्न की जाती है। मोक्ष को प्राप्त करनेवाली शुद्ध आत्माएँ तथा अर्हन्तों की आत्माएँ तो विधिवत् पूज्य हैं ही, पर यक्ष, यक्षिणी, दिक्पाल कल्पवासी आदि सम्यग्दृष्टि देव भी सत्कार करने के योग्य हैं। इनका सत्कार करने से लौकिक इष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है। जैसे किसी राजा, महाराजा के साथ उसके अधिकारी भी सम्मान प्राप्त करते हैं अथवा लोग उनका सम्मान करते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् की पूजा के साथ उनकी सेवा करनेवाले यक्ष-यक्षिणी भी सम्मान के पात्र होते हैं। जो गृहस्थ भगवान् की पूजा के साथ नवग्रह, यक्ष-यक्षिणी आदि देवी-देवताओं का सम्मान करता है, उसके सभी अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाते हैं। मणि, मन्त्र और औषधि का प्रभाव जैसे परोक्षरूप से पडता है, उसी प्रकार इन देवी-देवताओं के सम्मान का भी प्रभाव पडता है।

तात्त्विक दृष्टि से जैनधर्म में किसीके भी भाग्य को बदलने की शक्ति किसी भी देव, दानव और परोक्ष सत्ता में नहीं बतायी गयी है। प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्मों के फल को व्यवहार-

नय की दृष्टि से भोगता है, कर्त्ता भी जीव स्वय है और फल भोक्ता भी जीव ही है। न कोई इसको कर्म करने की प्रेरणा करता है और न कोई फल देता है। जीव स्वतन्त्र रूप से अपने द्रव्य रूप स्वभाव में स्थित है, अतः निश्चय नय की अपेक्षा से यह अपने चैतन्य ज्ञानादि भावों का कर्त्ता तथा उन्ही का भोक्ता भी है। यहाँ पर आचार्य ने स्थूल व्यवहार की अपेक्षा से यह कथन किया है. क्योंकि सम्यग्दृष्टि देव सम्यग्दृष्टि पुरुष के कार्यों मे सहायक होते हैं तथा सभी संभव उपायों से उनके कार्यों को पूरा करने मे मदद करते है। इन देवों में लौकिक कार्य करने की शक्ति मनुष्यों से अधिक होती है, अत. सन्तुष्ट हो जाने पर ये अपने सहयोगियों की सभी प्रकार से सहायता कर सकते है।

उपचारक्कुडलीववंगुणविडलमत्तेनोल्दीयनो ।
उपमातीतने निम्म विंववनलपिदर्चिसल्सपदं ॥
विपुळानंददे निम्म रूपिन मुनीद्रर्गन्नसं नीडुवं- ।
गपवर्गं निजदुर्गमप्पुदरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१०३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दु.खियों को उपचार के लिये ओढ़ना, पहनने के लिये वस्त्र और खाने के लिए भोजन देने से कौन-सी वस्तु प्राप्त नही होगी ? हे आदर्श रूप से रहनेवाले भगवन् ! आप की मूर्ति की भक्ति पूर्वक पूजा करने से सम्पत्ति प्राप्त होती है। जो मुनि-श्रेष्ठ आप के रूप को धारण करता है, ऐसे मुनिको सतोषपूर्वक आहार देनेवाले व्यक्ति को क्या मोक्ष तथा आत्मरक्षण के लिये स्थान का मिलना असाध्य है ? ॥१०३॥

विवेचन— ससार में दुःखियों की सभी संभव उपायों से सहायता करने पर व्यक्ति के विकार और उसकी कषायें कम हो जाती है। संसार में जो व्यक्ति कषाय-पुष्टि के लिये अपने व्यव-हार को आडम्बर रूप में परिणत करता है तथा दूसरो को दिखाने के लिये अपने को निर्दोष बताता है, वह सबसे पहले अपनी आत्मा को धोखा देता है, वह आत्मवचक है और है अपने तथा दूसरों के लिये खतरनाक। ऐसे व्यक्ति से समाज का विशेष कल्याण नहीं हो सकता है तथा यह स्वय भी अपने को नरक का कीडा बनाता है। जो व्यक्ति धन से ममत्व दूर कर लेता है तथा अपने परिणामों में निर्मलता ले आता है, वह दान, पूजा और परोपकार के कार्यों की ओर विशेष रूप से अग्रसर होता है।

संसार में सबसे बड़ा पाप परिग्रह को इसलिये माना गया है कि इसके द्वारा ही सबसे बड़ी अशान्ति होती है। नाना प्रकार के झगडे-बखेडे होते है और एक दूसरे का गला काटा जाता है। क्रूरता पूर्वक हत्याएँ भी इसीके कारण होती है। राष्ट्रों में अशान्ति का दावानल भी इसी परिग्रह के कारण धधकता है। अतः इस परिग्रह से मोह दूर करने के लिये दान देना आवश्यक है। जैनागम में गृहस्थ के लिये स्पष्ट रूप से आदेश दिया गया है कि वह न्याय पूर्वक अपनी आजीविका का अर्जन करे। यहाँ न्याय वृत्ति का अर्थ राज्य व्यवस्था का उलघन न करना तो है ही, पर साथ ही अधिक संचयवृत्ति को छोड़ना भी है। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक संचय करता है, वह सामाजिक दृष्टि से दण्डनीय है। ऐसे व्यक्ति को समाज से प्रारम्भ में भले ही आदर मिले, पर पीछे तो उसे घृणा ही मिलती है।

दान देने और भगवान् की पूजा में धन व्यय करने से धन विषयक मोह बुद्धि हटती है। यदि उक्त दोनों वृत्तियों से धन सम्बन्धी ममत्व घटने के स्थान में बढता हो हो तो फिर ये दोनों क्रियाएँ पापवर्धक ही मानी जायेंगी। क्योंकि इन दोनों क्रियाओ का कार्य तो मूर्छा को घटाने का है। यदि इनसे मूर्छा का घटाना तो अलग रहा, वह और चढे तो निश्चय ही अधर्म होगा। जो लोग ऐसा समझते है कि भगवान् की पूजा करने से

लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, घर में सभी प्रकार के सुख उत्पन्न हो जाते है तथा समस्त ऐहिक कामनाएँ परिपूर्ण हो जाती है; वे बिल्कुल गलत सोचते है। क्योंकि प्रभु भक्ति या पूजा किसी भी प्रकार की लौकिक सामग्री प्राप्त करने के लिये नहीं है। किन्तु यह तो विकार और कषायों को दूर करने में परम सहायक है।

दान देना और मन में हर्ष-विषाद के समय साम्यभाव रखना विकार और कषायो को घटाने की सर्व प्रथम सीढी है। जो व्यक्ति अनायास मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, उसे सत्पात्रों को दान और भगवान् जिनेन्द्र की पूजन सर्वदा अवश्य करनी चाहिये। एक बात यहा स्मरण रखने की यह है कि कषाय पुष्ट या पूंजीवादी संस्कृति का आश्रय दान मे कभी नहीं लेना चाहिये।

विज्ञानं चमे शक्तिभक्ति दये निर्लोभं दृढंगूडिया-
रमज्ञानान्वितयोगिगन्नमनलपिन्त्तिवं कूडे ता- ॥
सुज्ञानं वडेदं सुख वडेद नोळ्पं पेत्तेने मातो स-
र्वज्ञा निम्मने कडनिन्नुळिदुवे ? रत्नाकराधीश्वरा ॥१०४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

विशेष ज्ञान, शान्त गुण, सामर्थ्य, भक्ति, कृपा से युक्त, आशा रहित रहनेवाले तथा परमात्मा मे भलीभाँति लीन रहनेवाले मुनि को भक्ति पूर्वक आहार देनेवाला मनुष्य शीघ्र ही उत्तम ज्ञानी हो जाता है और उत्तम सुख तथा योग्यता को प्राप्त करता है। कितनी अच्छी बात है यह! सर्वज्ञ ! वह आपही के दर्शन में लीन रहनेवाला बन जाता है। ॥१०४॥

विवेचन— गृहस्थ अपना सर्वाङ्गीण विकास गृहस्थी में अलिप्त भाव से रहता हुआ कर सकता है। गृहस्थ के प्रमुख दैनिक कृत्यों में दान, पूजा, स्वाध्याय और संयम का प्रधानता प्राप्त है। यों तो गृहस्थ करुणा और ममतावश भी दान देता है। करुणा दान के समय वह पात्र और अपात्र का विचार नहीं करता, क्योंकि उस समय उसके हृदय में दया का समुद्र उमडा रहता है, जिससे किसी भी दुःखी जीव को वह सभी संभव उपायों से अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करता है। वास्तव में सत्पात्र को दिया गया दान ही सार्थक होता है, क्योकि उससे पात्र और दाता दोनों की ही भलाई होती है।

मुनि या त्यागी उत्तम पात्र बताये गये है, इनको जो व्यक्ति आदर पूर्वक दान देता है तथा संयम को धारण करने में सहायक शरीर के सचालन के लिये आहार प्रदान करता है, वह व्यक्ति बहुत ही प्रशंसा का पात्र होता है। सत्पात्र को सम्यक् विधि पूर्वक आहारदान देने से पञ्चाश्चर्य सम्पन्न होते है तथा भावनाओं के विशुद्ध होने से जीव को महान् पुण्य का बन्ध होता है। इस जीव का चरम लक्ष्य वीतरागता की प्राप्ति है पर यह वीतरागता तभी मिल सकती है, जब जीव विकार और कषायों को अपने से पृथक् कर देता है। श्रेष्ठ मुनियो को आहारदान देने मे अपनी आत्मा मे विशुद्धि तो आती ही है, क्योंकि मूर्छा पदार्थों से दूर होती है।

जैनाचार्यों ने यतिधर्म के निर्वाह के लिये आवश्यक निर्ममता और स्वावलम्बन को माना है। यति अपनी किसी भी क्रिया को पराधीन नहीं रखता है, वह शरीर के अतिरिक्त संसार के समस्त पदार्थों से अपनी रागरूप प्रवृत्ति को हटा लेता है। यद्यपि शरीर के साथ सम्बन्ध रहने के कारण उसकी कतिपय प्रवृत्तियाँ शरीराधीन होती है तथा देखने में भी यह प्रतीत होता है कि शरीर के साथ इसका सम्बन्ध है; पर वास्तव में वह शरीर से अपने को भिन्न ही समझता है तथा व्यवहार भी भेदविज्ञान को लेकर करता है। उसकी दृष्टि में शरीर एक जुदा द्रव्य है तथा आत्मा भी

पृथक् द्रव्य है, इन दोनों का आपस में निश्चयतः कोई सम्बन्ध नहीं। व्यवहार म ये दोनों सम्बद्ध प्रतीत होते है तथा इन दोनों का सयोग सम्बन्ध दिखलाई पडता है।

गृहस्थ क जीवन की सार्थकता उपर्युक्त प्रकार से दान देने पर ही हो सकती है। दान मुनियो को तो देना ही चाहिये परन्तु अपने साधर्मी भाइयो की भी सहायता करनी चाहिये। जो धनी-मानी है, उनका प्रधान कर्त्तव्य है कि वे अपने साधर्मी और सहयोगियो की भरपूर सहायता करे। यद्यपि इस प्रकार की सहायता सुदान में परिगणित नहीं की जायगी फिर भी दान तो इसे भी माना जायगा। दान की प्रवृत्ति प्रशसा के लिये नही होनी चाहिये, बल्कि स्व और पर के उपकार के लिये दान देना चाहिये।

ओडल दंडिसुतिंद्रियगळ पोडर्प कुंदिसुत्तं गुरा-
विडियुत्त मनदेळ्गेय तडेयुतं तन्नत्म नोळ्ळताने मा- ॥
नुडियुत्तं भजमर्गे मुक्ति पथमं तोरुत्ते नोवकृतियि ।
पडे गेयूदा चरिपातने शिवनला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१०५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शरीर से कष्ट सहते हुए, स्पर्शन, रसना इत्यादि इन्द्रियों को जीतते हुए आत्मिक गुणों को ग्रहण करनेवाला, मन के स्वेच्छाचार का निरोध करनेवाला, अपनी आत्मा में ही स्थित रहनेवाला तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग का सेवन करनेवाला और दु:ख को संतोष से नष्ट करके आगे बढ़नेवाला क्या मंगल स्वरूप नहीं होता ? ॥१०५॥

विवेचन— संसार में सहिष्णु, संयमी और रत्नत्रय का आराधक ही सब प्रकार से पूज्य और वन्दनीय होता है। इस प्रकार के व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएँ अत्यल्प रहती है तथा वह शरीर जनित क्रियाओं को छोड अन्य बाह्य क्रियाओं में संलग्न नहीं होता। आत्मा के सिवा अन्य सभी वस्तुओं को पर समझता है तथा वह अपने जीवन में पूर्ण स्वावलम्बन ले आता है। जब तक जीव स्वावलम्बन को नहीं अपनाता है, तभी तक वह इन्द्रिय और मन की आधीनता में रहता है। जीवन में स्वावलम्बन आते ही पर प्रवृत्तियाँ दूर हो जाती है।

रत्नत्रय स्वावलम्बन स्वरूप ही होता है। जब यह विश्वास हृदय में उत्पन्न हो जाय कि मैं स्वतन्त्र द्रव्य हूँ, और मेरा सम्बन्ध

इन पर वस्तुओं से बिल्कुल नहीं है अतः मेरा प्रत्येक प्रयत्न अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिये ही होगा। धन, दौलत, स्त्री, पुत्र, महल, मकान ये सभी पदार्थ अपने स्वरूप में स्वतन्त्र रूप से अव-स्थित है अतः मुझे अपने स्वरूप की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार की प्रतीति ही तो सम्यग्दर्शन की कोटि में आती है। जब जीव का प्रयत्न इस प्रतीति को सार्थक करने के लिये आगे बढता है तथा वह स्वेच्छाचार को छोड आंशिक या पूर्ण स्वावलम्बन की ओर अग्रसर होता है तो वह सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का धारक माना जाता है। वास्तव में स्वावलम्बन का नाम ही तो रत्नत्रय है, निर्वाण में पूर्ण स्वावलम्बन प्राप्त हो जाता है, आत्मद्रव्य अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

स्वावलम्बन प्राप्ति के लिये आचार्य ने तीन बातें बतलायी हैं—पहली चीज है सहिष्णु होना अर्थात् सयोगी पर द्रव्य को दूर करने के लिये कष्ट सहिष्णु बनना, तपश्चर्या, उपवास आदि के द्वारा अपना शोधन करना, जिससे कषाय उत्पन्न न होने पावे। सहिष्णु व्यक्ति अपने मार्ग में कभी असफल नहीं होता है। जब तक जीवन में सहनशीलता नहीं आती तब तक कोई व्यक्ति किसी भी कार्य में सफल नहीं हो सकता है। सहनशीलता सफलता प्राप्ति का बहुत बडा साधन है।

दूसरी वस्तु संयम है। सयम के द्वारा इन्द्रियाँ और मन को

वश कर विकार और कषायों से अपनी रक्षा की जाती है। संयम जीव को सब प्रकार से स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाता है, संयम ही के द्वारा जीव रत्नत्रय मार्ग का अवलम्बन करने मे समर्थ हो सकता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करना भी संयम के भीतर परिगणित है। संयमी जीव अपने मन की चंचलता को रोकता है, वचनों का प्रयोग भी व्यर्थ में अधिक नहीं करता है तथा अपनी प्रत्येक क्रिया को इस प्रकार करता है, जिससे किसी भी प्राणी को रंचमात्र भी कष्ट नहीं होने पाता है। राग-भाव संयमी के हृदय से बिल्कुल हट जाता है। तीसरी वस्तु रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण करना है, क्योंकि इस मार्ग का अनुसरण करने पर ही प्राणी स्वावलम्बन का पाठ सीख सकता है तथा जीवन में स्वावलम्बन प्राप्त कर सकता है।

कडेगिन्नेंतो भवाग्नितापवकटा ! कासा ग्नय नोळ्पडा-
सिडिलं शेषन दाडेये वडब्नं कालाग्निये शृंगये ॥
तडेदांतग्गळेय गड मदनने पापारिये कालनें ।
मृडनें मृत्युवदे निललूनेरेगुमे रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१०६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

यदि कामरूपी अग्नि के सताप को क्रूर कहा जाय तो संसाररूपी अग्नि की प्रखरता को क्या कहा जायगा ? ससाररूपी अग्नि का सताप तब प्रतिकूल होकर व्यथित करने लग जाता है तब बिजली, शेषनाग के ाँत, वडवानल, प्रलयकाल की अग्नि और तीक्ष्ण सींगवाले जन्तु भी सको रोक रखने में समर्थ नहीं हो सकते । ससार के प्राणियो को वश करनेवाला महान् शूरवीर मन्मथ भी क्या समर्थ हो सकता है ? मराज, रुद्र और स्वय मृत्यु भी कुछ नहीं कर सकतीं ॥१०६॥

विवेचन—काम—विषय वसना रूपी अग्नि बडी भयकर ाती है, यह मनुष्य को बेचैन कर देती है। एक क्षण के ये भी मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती। मनुष्य का हृदय नरात परेशान रहता है। काम का आवेग आने पर खाना-ना, सोना-उठना-बैठना आदि सभी बुरे मालूम पडते हैं। मन में ना प्रकार के संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते है, एक क्षण के ये भी शान्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार भयकर अग्नि किसी पदार्थ को तुरन्त जलाकर राखकर देती है, उसी प्रकार यह मागिन भी जीव के स्वाभाविक गुणोंको भस्म कर देती है।

वासनाएँ जितनी अधिक बढती जाती है, जीवको उतनी ही अधिक अशान्ति का सामना करना पडता है। वास्तव में शान्ति त्याग रूप में ही मिलती है, क्योंकि पर वस्तुओं की ममता जितने अंश में रहती है, अशान्ति जीव को उतने ही अश में अधिक मिलती है। जब त्याग की ओर प्रवृत्ति हो जाती है तो कोई भी व्यक्ति स्वावलम्बन की ओर बढने लगता है। धन और कामिनी जीव को स्वावलम्बी बनने में सबसे बडे बाधक है। स्वावलम्बी जीवकी भौतिक आकाक्षाएं और विकारात्मक वासनाएँ समाप्त प्रायः हो जाती है। आचार्य ने उपयुक्त पद्य मे कामरूपी अग्नि की भयकरता का चित्राङ्कन किया है। यह एक भयकर रोग है, जिसका इलाज सयम और त्याग से ही हो सकता है। आत्माकी अमर शक्तिका विकास भी इस मदनज्वर के दूर करने पर ही होता है। सासारिक लुभावनी वस्तुओं में सबसे प्रमुख स्थान नारी का इसीलिये माना गया है कि वह रागवृद्धि का साधन है तथा इसीके निमित्त को लेकर कामज्वर की वृद्धि होती है।

सुख और शान्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप को अवगत कर ले। पराधीनता भी अशान्ति का दूसरा नाम है, तथा इसकी उत्पत्ति भी विकार और कषायो से होती है। जबतक जीव विकार ग्रस्त रहता है, अपने चारों ओर अशान्ति ही अशान्ति देखता है। उसे सर्वत्र संघर्ष और द्वन्द

ही दिखलायी पडते है, किन्तु जब वह विकारों से दूर हो जाता है तो उसे एक भी द्वन्द या सघर्ष का सामना नहीं करना पड़ता है। विकारों की प्रचुरता ही जीवको राग और द्वेष बुद्धि की ओर अग्रसर करती है, जिससे वह शत्रुता और मित्रता की कल्पना करता है। अतएव संक्षेप में जीव का हित विकारो को दूर करने में ही है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की सज्ञाएँ—वाञ्छाएँ भी विकारों के कारण ही उत्पन्न होती है। विकारों को शान्त करने के लिये ही जीव, उक्त चारों सज्ञाओं का सेवन करता है, वस्तुतः विकार रहित जीव के लिये ये संज्ञाएँ बाधक नहीं होती है। जीवका पुरुषार्थ इन सज्ञाओं को छोडने के लिये ही होता है, क्योंकि इनके सेवन करने की प्रवृत्ति अनिष्टकर ही है।

श्रुतम नोळ्प तदर्थस तिळिव तन्मर्यादेयोळ्पोप सु-
व्रतमं पालिप कामसं तुळिव मायाजाड्यम भ्काडिपु- ॥
न्नतकारुण्यदोळाळ्व जीवहितम पेळ्वातने मद्गुरु ।
श्रुतयोगीश्वरनिदु नाळिन शिवं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१०७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शास्त्र पढनेवाला, शास्त्र का अर्थ जाननेवाला, शास्त्र के अनुसार चलनेवाला, अहिंसा आदि श्रेष्ठ व्रतों का पालन करनेवाला, भोग की इच्छा पर विजय प्राप्त करनेवाला, अज्ञानरूपी जड़ता को दूर करनेवाला, दयारुपी रस में अत्यधिक मग्न रहनेवाला; प्राणियों के हित की बातें समभ्कानेवाला यति ही मेरा गुरु है। वह आज "श्रुतयोगीश्वर" है और कल भगवात्मा अर्थात् मोक्षात्मा योगीश्वर ही वन्दनीय हैं।

विवेचन—आत्मिक उत्थान या स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनेक साधनो में से शास्त्र स्वाध्याय करना, महाव्रतों को पालना, पूर्ण सयम का धारण करना, हित-मित-प्रिय वचन बोलना, मन-वचन-काय की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों को रोकना एवं अपने आचार और व्यवहार को पूर्ण अहिंसक बनाना, प्रधान है। कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त साधनों का उपयोग कर अपना कल्याण कर सकता है तथा अपने विकास के मार्ग को प्राप्त कर सकता है। शास्त्र स्वाध्याय से अज्ञान की निवृत्ति होती है तथा सद्विवेक जाग्रत होता है, जिससे मनुष्य को सदाचार की प्रेरणा निरन्तर मिलती रहती है।

एक बात यह भी है कि जितने समय तक स्वाध्याय किया जाता है, उतने कालतक जीव अपने स्वभाव में स्थित रहता है तथा परभावों से पृथक् रहता हुआ अपने ज्ञानरूप का आस्वादन करता है, जिससे परप्रवृत्ति कम हो जाने से जीवको आत्मानन्द की प्राप्ति होती है। इस आत्मानन्द मे रमण करने से आत्मा म निर्मलता तो आती ही है, पर अशुभ प्रवृत्ति के रुक जाने से आगामी कर्मों का बन्धन भी दृढ नहीं होता, जिससे यह जीव निरन्तर विकास करता हुआ किसी दिन अपने निजी गुणों को प्राप्त कर ही लेता है। स्वाध्याय करना प्रत्येक दृष्टि से मानवमात्र क लिये आवश्यक है। परन्तु स्वाध्याय काल में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि स्वाध्याय करते समय विकार और वासनाओं को हृदय में स्थान न मिले। जीव अपने उत्थान की प्रेरणा ज्ञानार्जन से प्राप्त करता रहे।

महाव्रतों का पालन करने से व्यक्ति अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर बढ़ता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिये महान् अनर्थ-कारी हैं, जिनके कारण उत्थान मार्ग में बाधाएँ आती है; जीव की निर्मलता प्रच्छन्न होती है, आदि दुर्गुण व्रतो के पालन करने से दूर हो जाते हैं। मन, वचन और शरीर की शुद्धि इन व्रतों से ही हो सकती है। व्रती जीव मन में घृणित बातों को स्थान

नहीं देता है तथा घृणित वचनों का भी उपयोग नहीं करता है। उसका हृदय इतना पवित्र हो जाता है जिससे विकार उसके पास भी फटकने नहीं पाते है, वह अविकारी निर्दोष और स्वात्मरत हो जाता है।

संयम को धारण करने के कारण साधु का जीवन पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है, वह जमीन शोधकर अपने उपकरणों को रखता है, भूमि देखकर चलता है और शरीर धारण के लिये निर्दोष भोजन लेता है। इस प्रकार अपने आचरण को शुद्ध रखने मे साधु का जीवन निर्दोष हो जाता है। विकार और कषायें क्षीण हो जाती है तथा उसका व्यक्तित्व प्रभावक और स्वावलम्बी बन जाता है। ज्ञान, ध्यान और आत्मशोधन ही उसके जीवन के प्रधान अग होते है, अत वह सर्वथा पूज्य होता है।
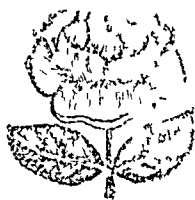
परसतोपमे सौख्यमेव परदुःख तन्न नेवेव ता।

परनेवदमनितुटेव परलोक तन्न नाडेव त- ॥

त्परमज्ञानिजगद्गुरु देवेंद्रकीर्तिव्रती-

श्वरनातं पेरनल्तु नीने पलवे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१०८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दूसरे के दुःख को अपना दुःख, दूसरे का आनन्द अपना आनन्द, दूसरे का सुख अपना सुख, अपने को शरीर से अलग माननेवाला तथा परलोक को अपना देश कहनेवाला इस लोक का गुरु तथा उत्कृष्ट ज्ञानी है। वही मेरा भी गुरु है। वह ज्ञानी देवेन्द्रकीर्ति मुनीश्वर है, अधिक क्या कहा जाय ! ॥१०८॥

विवेचन — जो व्यक्ति प्रशम, यम, समाधि, ध्यान, विनय, भेदविज्ञान और समताभाव को प्राप्त होते हैं, वे संसार में महान् हैं तथा पूज्य हैं। ऐसे व्यक्ति संसार में बहुत थोड़े ही होते हैं, क्योंकि उक्त गुणों के धारण करने से आत्मा का पूर्ण विकास होता है। प्रशम गुण के आ जाने से जीव कषाय भावों से रहित हो जाता है। राग और द्वेष जो कि संसार में सबसे बड़े शत्रु थे, जिनके कारण इस जीव को नाना प्रकार की इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होती रहती थीं, जिनसे संसार के पदार्थों को सुखमय समझता था, वे सब पराजित हो जाते हैं। प्रशमगुण आत्मा को निर्मल बनाता है, चित्त के विकारों को दूर करता है और मन को समस्त विकल्पों से रहित बनाता है। [illegible] के लिये

सबसे बडा बाधक है। ज्ञानार्णव में श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है—

स्वतत्त्वानुगतं चेतः करोति यदि संयमी।
रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति भ्रमसागरे॥
आत्माधीनमपि स्वान्त सद्यो रागैः कलङ्क्यते।
अस्ततन्द्रैरतः पूर्वमत्र यत्नो विधीयताम्॥
अयत्नेनापि जायन्ते चित्तभूमौ शरीरिणाम्।
रागादयः स्वभावोत्थज्ञानराज्याङ्गघातकाः॥
इन्द्रियार्थानपाकृत्य स्वतत्त्वमवलम्बते।
यदि योगी तथाप्येते छलयन्ति मुहुर्मनः॥

अर्थात—संयमी मुनि निजरूप का अनुभव भी कर लेता है, पर रागादि भावों के आजाने से वह पुनः भ्रम में पड जाता है। अपने आधीन किया गया मन भी रागादि भावों के उत्पन्न हो जाने से तत्काल कलंकित हो जाता है, अतः सबसे प्रथम मुनि को प्रमाद रहित होकर रागादि भावों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। जीव के स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन आदि गुणों को घातनेवाले रागादिभाव चित्तरूपी भूमि में अपने आप उत्पन्न हो जाते है, जिससे जीव का महान् अकल्याण होता है। इन्द्रियों के विषयों के रोकने पर तथा निजरूप में रमण करने पर भी रागादि

भाव निरन्तर उत्पन्न होते हैं, जिससे जीव विकार ग्रस्त होता रहता है।

प्रशम गुण जीव की इस विकृत अवस्था को दूर करता है तथा रागादि भावों को पृथक् कर इस जीव को शुद्ध अवस्था में ला उपस्थित करता है। त्याग वृत्ति का उत्पन्न होना भी आवश्यक है, बिना त्याग वृत्ति के जाग्रत हुए कोई भी व्यक्ति अपना कल्याण नहीं कर सकता है। समाधि—आत्मस्वरूप में रमण करना भी मुनि या साधु के लिये परमावश्यक है, इससे जीव अपने निजीरूप को प्राप्त कर लेता है। ध्यान और विनय भी आत्मशुद्धि में सहायक हैं, इनमे जीव समताभाव को प्राप्त होता है। राग-द्वेष का अभाव इसी समता के द्वारा होता है।

भेदविज्ञान—अपना और परद्रव्य के सम्बन्ध तथा स्वरूप का ज्ञान करना तथा अनुभव में लाना स्वावलम्बन प्राप्ति का एक साधन है। भेदविज्ञानी जीव अपने स्वरूप को जानकर उसमें लीन होने का प्रयत्न करता है। अतः जो मुनि या योगी उक्त गुणों का धारी है, वह अवश्य पूज्य है।

व्यवहारं व्यवसायमोलगमिवं माडेंबरं माडे मे-
चुवरं माळ्परनेल्लियुं पडेयलूटूरोळिन्नंते मो ॥
च्चवनोंदं नेगळेंवर नेगळे हो लेसेवर नच्चि मा-
ळ्पवरं निन्नवरल्लदेल्लि पडियें रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१०९॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

कलह, आरम्भ सभा इत्यादि काम को करो ऐसा कहनेवाले को, करने से माननेवाले को और स्वयं करनेवाले को सब जगह आनन्द के साथ कष्ट प्राप्त होता है। पर मोक्ष साधन जैसे कार्य के लिये परामर्श देनेवाला, यह कार्य अच्छा है ऐसा विश्वास दिलानेवाला और विश्वास रखकर करनेवाला आपके सिवा अन्य कोई मुझे प्राप्त नहीं हुआ। आप ही जीवों को हितकारक उपदेश देनेवाले हैं। ॥१०९॥

विवेचन—सासारिक झगडे, कलह और विसंवाद इस जीव को हितकारी नहीं हो सकते। यद्यपि प्रारम्भ में यह इन कार्यों में आनन्द का अनुभव करता है और अपने को सुखी बनाने का उपक्रम करता है, परन्तु पीछे ये सारी चीजें कष्टप्रद होती है। जो व्यक्ति इनका उपदेश देता है, वह भी आनन्द के स्थान में कष्ट का अनुभव करता है। राग-द्वेष और मोह के कारण ही इस जीव को अनेक प्रकार के कष्ट होते है तथा वह अपने को बड़ा तथा अन्य को छोटा समझता है जिसके फलस्वरूप कलह और विसवाद आरम्भ होते है। इस मोह की महिमा भी विचित्र है, यह सर्वत्र अपना प्रभाव फैलाकर जीव को कष्ट देता है।

मोहवश ही वस्तु प्रिय लगती है तथा मोह के दूर हो जाने पर उसमें रस नहीं आता है। मोह और विकार ही तो इसकी पराधीनता के कारण है।

मोक्ष के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं। इनका उपदेशक और आचारण करनेवाला दोनों ही जीवन के लिये अनुकरणीय हैं। जीव का वास्तविक ध्येय तो मोक्ष को प्राप्त करना ही है, इसके आचरण करने में भले ही कुछ कठिनाई जीव को प्रतीत हो, पर वास्तव में यही जीव के लिये शाश्वत, नित्य और प्राप्य है। इधर-उधर जीव इसलिये भटकता है कि वह भ्रमवश अन्य को अपना समझता है। यदि इसे वास्तविकता का ज्ञान हो जाय तो फिर वह इधर-उधर भटके नहीं। कविवर बनारसीदास ने जीवको इसी परवस्तु का वर्णन करते हुए कहा है—

जब लगु जीव शुद्ध वस्तु को विचारै
ध्यावै तब लगु भोगसों उदासी सरवंग है।
भोग मे मगन तब ज्ञान की जगन नाहिं,
भोग अभिलाष की दशा मिथ्यात अंग है।
ताते विषै भोग मे मगन सो मिथ्याति जीव,
भोग सों उदासि सो समकिति अभंग है।

ऐसी जानि भोगसो उदासि ह्वै मुगाति साधै,
यहै मन चंग तो कठोत माहि गंग है ।।

अर्थात्—जबतक जीव शुद्ध वस्तु का विचार करता है, ध्यान करता है तबतक वह विषय-भोगों से विरक्त रहता है। जब जीव विषय-भोगों में लग जाता है, तब ज्ञान की दशा नहीं रहती है। विषयाभिलाषा ही तो मिथ्यात्व का अग है। अतः विषयभोगों में रत रहना मिथ्यात्व है और विषयभोगों से विरक्त होना सम्यकत्व है। क्योंकि जीव के लिये परवस्तु विषयभोग है, जो इनमें रत रहता है वह पर को अपना समझता है, अतः भ्रमबुद्धि होने के कारण मिथ्यात्वी है। विषय-भोगों से उदास होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। विषय-चाह इस जीव को अपने स्वरूप से च्युत कराती है, अतः इसका त्याग करना आवश्यक है। जाति, कुल, आचार, ये सब धर्म नही है, धर्म तो जीवका स्वभाव ही है, जबतक जीव अपने स्वभाव में रमण करता है, धर्मात्मा कहलाता है स्वभाव से च्युत होने पर वह धर्महीन हो जाता है। अन्तर्वृ त्ति जीव की इसलिये धर्म के निकट है कि, वह जीव के स्वभावरूप पडती है। अतः अपने स्वरूप मे लीन होने का प्रयत्न ही सब कुछ है।

विध्या कुक्कुटनोंदु संक्रमणम पार्दल्लि मेय्वण्णम ।
चध्य माडदे माडिकोळ्वदु गडा योगीश्वरनिंचलं ॥
संध्याकालमनासेवट्टरोळीर्याशुद्धियिस्तोत्र ज-
प्य ध्यानगळ माडे सिद्धियरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा । ११०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जंगल की मुर्गियाँ जिस प्रकार मकर संक्रान्ति के समय को व्यर्थ व्यतीत न कर अपने शारीरिक वर्ण का परिवर्तन कर लेती हैं उसी प्रकार मुनीश्वर त्रिकाल सन्ध्या समय ईर्यापथ शुद्धि से स्तोत्र, जप तथा ध्यान आदि प्रक्रियाओं से परमात्म स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। यह उनके लिये असाध्य नहीं है ॥११०॥

विवेचन—राग-द्वेष, विषयभोगाकांक्षा, स्त्रीपुत्रादि के साथ प्रेम ये सब जीव के दोष हैं, क्योंकि इनके होने से मनुष्य नित्य सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है। उपर्युक्त दोष आकुलता, अज्ञान और बुद्धिविपर्यास उत्पन्न करते है, जिससे इस जीव को तनिक भी चैन नहीं मिलती है।

शास्त्रों में गुण उसी को माना गया है जो साक्षात् या परम्परया वास्तविक शान्ति को देता है, जिससे जीव अपने निज स्वतन्त्ररूप को प्राप्त करता है। आत्मज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों के प्रादुर्भूत होने से सांसारिक जंजाल से आत्मा विरत हो जाती है। जो माया, मोह, आकुलता और दुःख को बढानेवाले थे, उनसे यह जीव अलग हो जाता है। साधु या मुनीश्वर भी

साधारण व्यक्ति नहीं होते, ये अपने पुरुषार्थ द्वारा तपश्चरण की ओर प्रवृत्त होते है तथा त्रिकाल सामायिक, आत्मचिन्तन आदि के द्वारा अपनी कर्मकालिमा को हटा देते है। तपश्चर्या करने से ही शरीर से मोह छूटता है और आत्मतत्त्व की पहचान होती है। कायक्लेशादि द्वारा जब शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है तो विकार उत्पन्न नहीं होते और न दुष्ट भावनाएँ ही उत्पन्न होती है। रसों का सेवन न करने से इन्द्रियों की शक्ति भी क्षीण हो जाती है, क्योंकि इन्द्रियों को रससेवन से ही बल मिलता है, जिससे वे विषयो में प्रवृत्ति करती है।

आत्मचिन्तन से मन पवित्र हो जाता है, गन्दे और बुरे विचार रुक जाते हैं तथा धीरे-धीरे ज्ञानानन्दमय स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है। विषयाधीन रहनेवाले मन और शरीर स्वतन्त्र हो जाते है। विषय वास्तव में व्याधे के समान है, जैसे व्याधा अपने जाल में पक्षियों को फँसा लेता है और उन्हें पराधीन कर नाना प्रकार से कष्ट देता है, इसी प्रकार विषय भी अपने चंगुल में जीवो को फँसाते है, उन्हे पराधीन बनाते है तथा सन्ताप, वेदना और नाना प्रकार की अशान्ति उत्पन्न करते है।

सजग प्राणी सर्वदा अपनी आत्मालोचना और तपश्चरण द्वारा अनादिकाल से चली आयी कर्मपरम्परा को दूर कर देते है, क्योंकि क्रोध, मान, मायादि कषाय इस तपके द्वारा ही भस्म होते

है। विकार और कषाय ही तो संसार परिभ्रमण के कारण हैं, जबतक ये लगे रहते हैं, जीव दुःख उठाता रहता है। इनको दूर करना या जीतना तपश्चरण से ही संभव है। अनशन, ऊनोदर, व्रतसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश, विविक्तशय्यासन आदि बाह्य तपों द्वारा इन्द्रियाँ और मन वशीभूत हो जाते हैं, जिससे विषय-वासना छूट जाती है तथा विकारों और कषायों का धीरे-धीरे बल भी नष्ट हो जाता है। विषय-वासना के न होने से ज्ञानाभ्यास, विषय व्याकुलता हटने से शान्ति, अनशनादि तपों के करने से शरीर से ममत्वबुद्धि का त्याग तथा स्व की पहिचान, त्रिकाल सामायिक करने से आत्मानुभूति, ईर्यापथ शुद्धि के पालने से समताबुद्धि एवं मन-वचन-काय के स्वाधीन करने से विश्व-बन्धुत्व तथा स्वावलम्बन की प्रवृत्ति होती है। अतः योगीश्वर अपने आत्मकल्याण में प्रवृत्त होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वह इस मनुष्य जीवन को व्यर्थ नहीं खोता है।

अस्ताद्रि स्थळदल्लि कडुरवियं ताराळिय कन्बिन।
निस्तेजक्केडेयाद तारेगळकडर्कोदयं काण्वन॥
विस्तारगिडे मेयनेळल्मगुळे विस्तारक्के तोर्पन्नेग।
सुस्तोत्र गेये निम्म काण्बुदरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१११॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सूर्य्यास्त के समय, सूर्य्योदय के समय और मध्यान्ह के समय आपकी श्रेष्ठ स्तुति करने से आत्मस्वरूप का प्राप्त होना क्या असाध्य है ?

विवेचन—यह ससार परिवर्तनशील है, इसमें सभी पदार्थ प्रतिक्षण अपने रूपको बदलते रहते है। प्रात. काल जो अमन-चैन क साथ अपने धवल प्रासाद में निवास करता है, सन्ध्या समय वही श्मशान भूमि में देखा जाता है। धनकी अवस्था भी यही है, आज जो धनिक दिखलायी पडता है, कल एकाएक वही निर्धन हो जाता है। प्रातःकाल जहाँ माङ्गलिक गायन होते देखे जाते है, सन्ध्या समय वहीं पर रोदन होना हुआ दिखलायी पड़ता है। अतः इस प्रकार के परिवर्तनशील ससार में जीव को धर्म सेवन का सदा ध्यान रखना चाहिये। सुप्रभाचार्य ने अपने वैराग्यसार-प्राकृत दोहाबन्ध में संसार की इस स्थिति का सुन्दर विश्लेषण किया है—

सुप्पउ भणइं रे धाम्मियहु मा खसहु धम्मणियाणि।
जे सूणामि धवल्र हरिते अथवण मसाण ॥

हे धर्मिणो लोकाः जिनधर्मात् दशविधधर्मात् मा खसहु—मा चलन्तु, अपरमिथ्यामार्गे मा पतन्तु तथा मरणपर्यन्तमपि जिनधर्ममार्गात् मा चलन्तु, कुतः अत्र संसारे ये लोकाः सूर्योदये धवलगृहे तिष्ठान्ति ते लोकाः अस्तंगते सूर्ये श्मशाने दृश्यन्ते लोकैरिति शेषः ॥

त्रिकाल शुद्धात्मा की स्तुति करने से आत्मिक गुणों की प्राप्ति होती है। आत्मा अपने स्वरूप को अवगत कर स्वावलम्बन की ओर प्रवृत्त होता है। भगवान् जिनेन्द्र की स्तुति में प्रवृत्त होने से तत्काल शान्ति की प्राप्ति होती है। यद्यपि प्रारम्भ में अल्प सुख ही होता है, पर परिपाक अवस्था में इससे पूर्ण सुख की प्राप्ति हो सकती है। भगवच्चरणों का ध्यान और अपनी शुद्धावस्था का चिन्तन ये दोनों एक ही वस्तु हैं। प्रभु के चरणों का ध्यान करने से अपनी अवस्था की स्मृति आती है, बहुत समय तक प्रभु चरणों को देखने से कर्मकलङ्क नष्ट हो जाते हैं। आत्मा धीरे-धीरे परमानद की ओर बढ़ता है। शुद्धात्मा का ध्यान अधिक काल तक नहीं किया जा सकता है, अतः तीर्थंकर भगवान् की मूर्ति के समक्ष बैठकर ध्यान करने से स्थिरता आती है। प्रभु के गुणों का स्मरण और वर्णन करने से जीव को अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होने में विलम्ब नहीं होता है।

अभिप्राय यह है कि यह आत्मा संसारावस्था में जीवात्मा कही

जाती है, किन्तु अन्तरंग तथा बाह्यस्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री के प्राप्त होने पर यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को प्राप्त करती है। इसका पुरुषार्थ इस रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये ही होता है। बहिरात्मा अवस्था तभीतक रहती है, जबतक यह जीव अपने वास्तविक स्वरूप से अपरिचित रहता है तथा शरीर को ही आत्मा समझता है। जब यह अन्तरात्मा बनता है, अर्थात् आत्मा की स्व शक्ति को प्राप्त करता है तथा परद्रव्य से अपने को भिन्न समझने लगता है तब यह अन्तरात्मा बन जाता है। अन्तरात्मा की स्थिति में यह जीव प्रभु के गुणो के स्मरण और चिन्तन द्वारा अपना उत्थान करता है तथा अपने गुणो को प्राप्त होता है। इस अवस्था में इस जीवकी आत्मिक शक्ति उद्‌बुद्ध हो जाती है और वह त्रिकाल-स्तुति एवं सामायिक द्वारा निजी रूप का अनुभव करता हुआ अपने पथ में अग्रसर होता है।

सिह् नास्ति भटाळि सिह्खमं माडलूगजं वेचुगुं।
सिंहाकार मनं किसलूनरर वेन्नोळ् हस्तिरोग हरं ॥
सिंहारूढने ! निम्म मंत्रदे भवच्छ्रीविवंदे पीडेग.
सहारगळनेयदूवे ? सकलवें ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

योद्धाओं के सिहनाद से हाथी भयभीत होकर भाग जाते हैं। मनुष्य की पीठ पर सिह का चित्र बनाने से 'आनेगजी' (हाथी-खुजली) नाम का रोग नष्ट होता है। इसलिये सिंह के लाञ्छन से युक्त हे भगवन् ! तुम्हारे नामाक्षर रूप मन्त्र और तुम्हारी शोभामयी मूर्त्ति से सभी बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं ? अनेक साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती ॥११२॥

विवेचन—अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का लाञ्छन सिह है तथा जैनागम में सिह निर्भयता का सूचक भी बताया गया है। भगवान् महावीर के नाम मे इतनी बड़ी शक्ति वर्तमान है कि कोई भी ससार का कार्य सफल हो सकता है। वीतरागी प्रभु के नाम स्मरण मात्र से ही आत्मा में पवित्रता आ जाती है तथा आत्मा रागद्वेष से रहित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त करती है। कविवर बनारसीदास ने भक्ति का वर्णन करते हुए कहा है—

ताको आय मिलै सुख संपति, कीरति रहै तिहूं जग छाय।
जिनसों प्रीत बढ़े ताके घट, दिन दिन धर्म बुद्धि अधिकाय॥
छिन छिन ताहि लखे शिवसुन्दर, सुरग संपदा मिलै सुभाय।
बानारासि गुनारास संघ की, जो नर भगति करै मनलाय॥

अर्थात्—जो व्यक्ति मन लगाकर प्रभु के चरणों की भक्ति करता है, उसे तीनो लोक का सभी सुख सामग्रियाँ मिल जाती है, उसका यश समस्त लोक में व्याप्त हो जाता है तथा सभी लोग उससे स्नेह और उसका आदर करने लगते है। मोक्ष लक्ष्मी उसकी ओर प्रतिक्षण देखती रहती है, स्वर्ग की सम्पत्तियाँ उसे अपने आप मिल जाती है तथा समस्त गुण उसे प्राप्त हो जाते है। अभिप्राय यह है कि भगवान् की भक्ति में अपूर्व गुण वर्तमान है, जिससे उनकी भक्ति करने से सभी सुख-सामग्रियाँ अपने आप प्राप्त हो जाती है। यद्यपि जैनागम में भक्ति को दासता की निशानी नहीं माना है और न भक्ति दीनता भरी याचना ही है। बल्कि भक्ति को आत्मविशुद्धि में प्रधान कारण माना है।

भक्त भगवान के सामने अपने को तुच्छ और भगवान को महान् शक्तिशाली मानने का उपक्रम नहीं करता है; बल्कि आगम में बताया यह गया है कि जितनी शक्ति द्रव्य की अपेक्षा से

भगवान में न उनकी हार और न जीत। अन्तर इतना ही है कि भगवान की शक्ति प्रकट हो चुकी है पर भक्त की शक्ति अभी प्रच्छन्न है। भक्त प्रभु चरणों का आधार पाकर अपने अव्यक्त गुणों को प्रकट करता है। वह इच्छा की प्रबलता से जैसे सिन्धु, भावनाओं गुणों का धारी रहता है, वैसे ही पर्याय की अपेक्षा से भी उन्हीं गुणों को प्राप्त करता जाता है।

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की स्तुति और पूजा करने का कथन उपर्युक्त पद्य में कवि ने किया है। कवि बतलाना चाहता है कि प्रभु भक्ति का आधार लेकर बिना तपश्चरण आदि के भी व्यक्ति अपना उद्धार कर सकता है। तपश्चरण करना सब के लिये सम्भव नहीं, भक्ति राग का अंश है फिर भी उसका आधार पाकर भव्य जीव अपना विकास कर लेते हैं। सेव्य सेवक भाव की कल्पना जैन भक्ति में नहीं है, किन्तु यहाँ भक्ति का अर्थ केवल अपनी भावनाओं को पवित्र करना है। अतः सामान्य व्यक्ति कड़ी साधना न कर भक्ति से ही अपने कल्याण का मार्ग प्राप्त कर लेता है।

गरुडोच्चारणमंत्रदिं विषविनाशंयक्षिणी सत्रदि ।
दोरेकोळ्गुं बहुविद्येगळ्गरुडयक्षर् पूज्यपादा ब्जनं ॥
गुरुवे निम्मनलपिनि तेलेवं गावाद कष्टगळ--
ळिरवावाव मनोरथं फलिसदो ? रत्नाकराधीश्वरा !॥११३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

गरुड-मन्त्र से विष उतर जाता है। देव सिद्धि मन्त्र से अनेक कला-कौशल और वस्तुओं की प्राप्ति होती है। गरुड देवता और यक्ष देवता द्वारा पूजनीय आपके चरण-कमल का भक्ति पूर्वक स्मरण करनेवाले को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती तथा अनेकानेक इष्टार्थ की सिद्धि भी होती है॥ अर्थात् भगवान की पूजा करने से सभी मनोकामनाएँ सिद्ध होती है।११३।

विवेचन—सम्यग्दर्शन की शुद्धि में जिनेन्द्र पूजन भी कारण है। भगवान की पूजा करने से सम्यग्दर्शन गुण वृद्धि को प्राप्त होता है। जिनेन्द्र प्रभु की पूजा यक्ष देव, किन्नर आदि देव, ज्योतिषी कल्पवासी और इन्द्र-धरणेन्द्र आदि सभी करते है। क्योंकि प्रभु पूजन करने से शुभ परिणति प्राप्त होती है, जिससे जीव कालान्तर में शुद्ध परिणति को भी प्राप्त कर सकता है। कविवर बनारसीदासजी ने अपने नाटक समयसार में सम्यक्त्व की महिमा तथा मिथ्यात्व से होने वाली हानि का निरूपण करते हुए इस जीव को सावधान किया है तथा बताया है कि हे जीव सर्वदा

प्रमाद को छोड़कर ऐसे कार्य कर, जिनसे सम्यक्त्व की वृद्धि हो और मिथ्यादर्शन का नाश हो जाय। प्रभु पूजा, दान आदि कार्य भी सम्यक्त्व की वृद्धि मे सहायक है। जीवका वास्तविक सुधार इस सम्यग्दर्शन से ही सभव है—

ज्ञानदृष्टि जिनके घट अन्तर, निरखे दरव सुगुन परजाइ।
जिन्ह केसहजरूप दिन दिन प्रति, स्यादवाद साधन अधिकाइ॥
जे केवल प्रतीत मारग मुख, चिते चरन राखें ठहराइ।
ते प्रवीन करि छिन्न मोहबल, अविचल होइ परमपद पाइ॥

चाकसो फिरत जाको संसार निकट आयो,
पायो जिनि सम्यक मिथ्यात नाश करिके॥
निरद्वंद मनसा सुभूमि साधिलीनी जिनि,
कीनी मोख कारन अवस्था ध्यान धरिके॥
सोई शुद्ध अनुभौ अभ्यासी अविनाशी भयो,
गयो ताको करम भरम रोग गरिके।
मिथ्यामति आपनो सरूप न पिछाने तामें,
डोले जगजाल में अनन्तकाल भरिके॥

अर्थात्—जिनके हृदय में ज्ञान की दृष्टि प्रकट हो गयी है तथा जिन्हे गुण-पर्याय सहित सभी द्रव्यों का बोध गया है।

स्याद्वाद के द्वारा जो वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कर रहे हैं तथा जिनके हृदय में तत्त्वों की प्रतीति हो चुकी है और जो मोक्ष मार्ग के पथिक बन गये हैं, वे अपनी चतुराई से मोह को नष्ट कर परमपद को प्राप्त करते है।

चक्र के समान घूमता हुआ जिनका संसार निकट आ गया है तथा मिथ्यात्व को नाशकर जिन्होने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है तथा जिन्होंने पूर्ण रूप से मनको शुद्ध कर लिया है और ध्यान करने का अभ्यास जिन्हे हो गया है, वे शुद्ध आत्मानुभव के अभ्यासी समस्त कर्मों के जाल को नाश करने वाले होते हैं। अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न हो जाने से इस जीव को संसार से छुटकारा मिल जाता है तथा अविनाशी सुख को प्राप्त कर लेता है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव अनन्त काल से सुख से वंचित है।

अतएव भगवान् की भक्ति, स्तुति, अर्चा, दान, स्वाध्याय आदि से सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि यह आत्मा का गुण प्रभु-भक्ति करने से प्रकट होता है।

गेडेगोंडाडुव लोकवार्तेगळाळेअंगायतं तुंविदा।
कोडदंतिर्पुदु निम्म मन्त्रजपसंमाळ्गागळु मीर्दक-॥
रिवडुनीर् मेय्मुरिवागुळिक्केगळिवे दुष्कर्मबंध सडि--
ल्दोडेदे सोर्दपुदेंवुद नुडियवे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्नेह के साथ ससार के समाचार पर बातचीत करते समय मेरे शरीर की दशा भरे हुए घडे की तरह रहती है। किन्तु जब आपके नामाक्षर रूप मन्त्र का जाप किया जाता है उस समय आँखों से पानी चलना, अंग मोड़ना आदि आलस्य के चिन्ह दिखायी पडने लगजाते हैं। पाप रूपी बंधन से बन्धाते हुए डोरी ढीली होकर, टूट कर गिरते हुए पानी को क्या इन आँखों का पानी नहीं कहते ॥११४॥

विवेचन-- ससार के बन्धनों में डालनेवाली बातों में जीव का मन विशेष लगता है। यह जीव रागवर्धक चर्चाएँ प्रेम से करता है तथा इस प्रकार की चर्चाएँ करते समय इसे तनिक भी आलस्य या कष्ट नहीं होता है। विषय-कषायों की बातों से यह कभी अघाता नहीं है। इसकी रुचि इनकी ओर अपने-आप हो जाती है। परन्तु भगवान् के गुणो का स्मरण या चिन्तन करने से ही शरीर में आलस्य आता है, मन शिथिल हो जाता है, आँखों से पानी गिरने लगता है। यह सब कर्मबन्धन की महिमा है। कर्मों के कारण इस जीव में कितना विकार आगया है जिससे यह अपने

उत्थान की ओर ध्यान भी नहीं देता है अथवा उत्थान की ओर दृष्टिपात करते ही उत्साह समाप्त हो जाता है, कितने बड़े आश्चर्य की बात है ।

मनीषी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने मन को समस्त विषयों से रहित और समस्त विकल्पों से वर्जित करने का प्रयत्न करते है। रागभाव ही इस जीव को विषय की ओर खींचता है, तथा यही प्राणी को संसार के पदार्थों मे स्नेह कराता है ।

मोह के कारण ही जीव अपने मन के विरुद्ध बात या कार्य कर क्रोध करता है, द्वेष करता है, राग करता है तथा नाना प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करता है, पर जब मोह घट जाता है तो जीव अपने स्वरूप में अवस्थित होने का प्रयत्न करता है। मोह रूपी बीज से राग-द्वेष रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है, इसीके फल सुख-दु:ख रूप हैं, जिनका आस्वादन जीव अहर्निश करता रहता है। ससार की विषय-कषाय की बातें इस जीव को राग-द्वेष और मोह के कारण ही तो अच्छी लगती हैं तथा यह जीव पाँच इन्द्रियाँ, चार विकथाये, चार कषायें निद्रा और प्रणय—स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों के आधीन होता है ।

यदि गहराई में प्रवेश कर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि जीव का कल्याण अपने स्वरूप में अवस्थित होने पर ही हो

सकता है। राग-द्वेष और मोह के निकलने पर ही जीव में साम्यभाव आ सकता है, तथा यह साम्यभाव ही समस्त पदार्थों में समता उत्पन्न करनेवाला है। साम्यभाव के आजाने से आशाएँ, आकाक्षाएँ तत्काल दूर हो जाती है तथा चचल मन जो सर्प के समान सर्वत्र विचरण करता था, शान्त हो जाता है।

ससार और विषय भोगोंसे विरक्ति, शारीरिक आवश्यकताओं से आसक्ति एव विकार और कषायों की पूर्ति करने की वांछा साम्य-भावना के द्वारा ही दूर की जा सकती है। अत' प्रत्येक व्यक्ति का विकार और कषायों को जीतने का अवश्य प्रयत्न होना चाहिये। इनके जीते बिना आत्मोत्थान के मार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

वणिज पंचसरगळं पिडिदु मुक्ताजालमं तां परी-
क्षणे गेय्वंतिरे पचमन्नदोळाडवट्ट क्षरव्रातमं ॥
परोयोळ्जाणिसि चर्मदृष्टिमुगिल्सुज्ञानसद्दृष्टियि ।
देणिसुत्तागळे काण्बने रिसियला ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार जौहरी मोती की केवल पाँच लडियों को देखकर समूचे मोती-समूह की परीक्षा कर लेता है इसी प्रकार पाँच मन्त्र से संबंध रखनेवाले अक्षर समूह को श्रेष्ठ मुनि ललाट में ध्यान करके पहले चर्मचक्षुओं से देखकर पुन ज्ञान-चक्षु से देखते है। उस समय उनको अपने स्वरूप का दर्शन होता है ॥११५॥

विवेचन— अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन ध्यान है। ध्यान करने के अनेक नियम हैं तथा अनेक प्रकार से ध्यान किया जा सकता है। सबसे सरल और साध्य नियम तो यह है कि पद्मासन लगाकर वीतरागी प्रभु की मूर्ति के सामने बैठ जाय और इक-टक दृष्टि से उस मूर्ति को जितनी देर देख सके, देखता रहे पश्चात् आँखों को अर्द्धोन्मीलित (आधी खुली और आधी बन्द) कर नासाग्र दृष्टि कर भीतर उस मूर्ति का दर्शन करे। जब ध्यान भीतरी मूर्ति के दर्शन से इधर-उधर उचटे तो पुनः सामने की मूर्ति पर अपने ध्यान को स्थिर करे, इस प्रकार कुछ दिन तक ध्यान करने से स्थिरता आयेगी।

स्थिरता प्राप्त होने पर निराकार ज्ञान-दर्शन रूप आत्मा का ध्यान करे तथा आत्मानन्द निर्झर जिसका प्रवाह भीतर तक बह रहा है, उसमें डुबकियाँ लगावे। आत्मानन्द का पान करने से अद्भुत तृप्ति होती है तथा ध्यान करने की शक्ति भी आती है। जो प्रारम्भिक साधना करना चाहते है, उन्हें तो केवल एकान्त में बैठकर कुछ समय तक आत्मानन्द का पान करने का अभ्यास करना चाहिये तथा अपने को सभी द्रव्यो मे स्वतन्त्र अनुभव करना चाहिये। ध्यान करने की विशेष विधि का निरूपण प्रथम भाग में किया गया है, यहाँ पर सिर्फ णमोकार मन्त्र का ध्यान कैसे करना चाहिये तथा इसके करने से क्या लाभ होगा, बताया जायगा।

स्फुरायमान निर्मल चन्द्रमा की कान्ति समान हृदयस्थ आठ पत्रो से सुशोभित कमल की कर्णिका पर '*णमो अरहंताणं*' पद का चिन्तन करे। उस कर्णिका के बाहर के आठ पत्तों में से दिशाओं के चार दलो पर क्रमश: '*णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं*'' इन चार मन्त्रपदों का चिन्तन करे तथा विदिशाओं के चार पत्तों पर ''*सम्यग्दर्शनाय नमः*', *सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः*' इन चार मन्त्रों का ध्यान करे। इस प्रकार अष्टदल कमल और कर्णिका में नवमन्त्रों का स्थापन कर चिन्तन करे। णमोकार मन्त्र के

ध्यान करने की यह विधि सर्वसाधारण के लिये उपयोगी है। इस विधि से मन स्थिर हो जाता है।

इस मन्त्र के ध्यान से समस्त पाप दूर हो जाते है, आत्मा पवित्र हो जाता है और मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने मे विलम्ब नहीं होता है। इस णमोकार मन्त्र मे ऐसी ही विचित्र शक्ति है, संसार का बडे से बडा काम इसके स्मरणमात्र से सिद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति भक्ति-भाव पूर्वक प्रतिदिन इस मन्त्र का जाप करते है, उनको ऐहिक सुखों के साथ पारलौकिक सुख भी प्राप्त होते है। संसार का परिभ्रमण चक्र इससे समाप्त होता है और आत्म-स्वतन्त्रता की प्रेरणा होती है। इस मन्त्र की अचिन्त्य महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

> प्रभावमस्य निःशेष योगीनामप्यगोचरम् ।
> अनभिज्ञो जनो ब्रूते यः स मन्त्रेऽनिलार्दितः ॥

अर्थात्— इस मन्त्र का प्रभाव मुनीश्वरो के भी अगोचर है, उनके द्वारा भी इसके प्रभाव का वर्णन नहीं हो सकता है, अनभिज्ञ जन जो इसके प्रभाव का वर्णन करते है, वे सन्निपात से पीड़ित होकर ही ऐसा करते है।

सूवत्तैदु शुभाक्षर तुदिगे वदोंकारमोंदादिर्गि-
ली वर्णोक्तदे मूलमन्त्रवद् तानेळगवायूता दोडे- ॥
ह्ला योदे असिआउसायेनलिदे पचाक्षर भाविमल ।
कैवल्यागनेकूडि केयिविडियळे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पैंतीस मंगल कारक अक्षर हैं और एक ओंकार है जिसे पहले आना चाहिए। इस अक्षर से कहा हुआ पैंतीस अक्षरों का एक मूल मन्त्र है जो सात विभागों में विभक्त है (१) णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, अरहंत, सिद्ध, आइरिया (२) उवज्झाया, साहू (३) अरिहंत, सि सा, (४) अ सि आ उ सा, (५) असि साहु, (६) असा, (७) ॐ । अर्हं यह सब मिलकर एकार्थ-वाचक हैं। अ सि आ उ सा ऐसा कहने से भी पंचाक्षर मन्त्र होता है। इसके स्मरण से मोक्षरूपी लक्ष्मी भक्त का हाथ पकड़ लेती है अर्थात् उसे वशी कृत करलेती है। ॥११६॥

विवेचन— ॐ और पैंतीस अक्षरों का णमोकारमन्त्र, इस प्रकार कुल छत्तीस अक्षरों का ध्यान, स्मरण, मनन एवं चिन्तन करने से जीव को सभी सुख सामग्रियाँ प्राप्त होती है। आगम में वर्णमातृका के चिन्तन का विधान किया है, क्योंकि समस्त शब्दों की रचना इसीसे हुई है। ध्यान करनेवाला व्यक्ति नाभिमण्डल पर स्थित सोलह दल (पत्तों) के कमल में प्रत्येक दल पर क्रम से अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ए ऐ, ओ औ, अं अः इन अक्षरों

का चिन्तन करे। पश्चात् वह हृदय स्थान पर कर्णिका सहित चौबीस पत्तों का कमल विचारे और उसकी कर्णिका तथा पत्तों में क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म इन पच्चीस अक्षरों का ध्यान करे।

पश्चात् आठ पत्तों के मुख कमल के प्रत्येक पत्ते पर भ्रमण करते हुए य र ल व श ष स ह इन आठ वर्णों का ध्यान करे। इस प्रकार वर्णमातृका का निरन्तर ध्यान करने से योगी समस्त श्रुतज्ञान का पारगामी होता है। इस वर्णमातृका का विधि पूर्वक ध्यान करने से क्षयरोग, अरुचिपना, अग्निमन्दता, कुष्ट, उदर रोग, कास-श्वास आदि रोग दूर हो जाते है। वचन सिद्धि हो जाती है, जिससे जो मुँह से निकलता है, अवश्य पूरा हो जाता है।

जैनागम में "ह" को मन्त्रराज बताया गया है। इस मन्त्र-राज का ध्यान करनेवाला योगी कुंभक प्राणायाम से मोह की लताओं में स्फुरायमान होता हुआ, मुख कमल में प्रवेश करता हुआ, तालु के छिद्र से गमन करता हुआ एव अमृत मय जल मे झरता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् नेत्र की पलकों पर स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिषियों के समूह में भ्रमण करता हुआ एव चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् दिशाओं में सचरण करता हुआ, आकाश में उछलता हुआ, कलंक के समूह को छेदता

हुआ, केशो में स्थिति करता हुआ, ससार के भ्रम को दूर करता हुआ, परम स्थान को प्राप्त करता हुआ एव मोक्ष लक्ष्मी से मिलाप करता हुआ ध्यान करे। इस मन्त्र-राज को उच्चारण के लिये 'अर्हं' पद से कहा जाता है। इस मन्त्र का ध्यान एकाग्रता के साथ करने से बडी ही अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। इस मन्त्र के ध्यान करने की विधि और भी तरह से ग्रन्थान्तरो में दी गयी है। परन्तु व्यवहार में कार्य करनेवाली विधि यही है कि एकान्त स्थान मे बैठ कर ललाट के मध्य में—भौंहो के बीच इसका चिन्तन करे। मन जितनी देर इस पर ठहर सके, रहने द। यदि जल्दी ही मन ऊब जाता हो तो हृदय में कमल की कर्णिका के मध्य में इसका ध्यान करे। इस मन्त्र के ध्यान से सभी प्रकार से सुख मिलते है।

नळिनीनाळके मूलदिं तुदिवर संपूर्णदिं स्वच्छदि-
दोळगेंतिर्पुदु तंतुवंते नरगं केवज्जेयिं नेत्तिमु- ॥
ट्टळेतं तप्पदे मूर्ति तुंबि पळुकि गेयिसर्द निम्मोंदु नि- ।
र्मळबिंबोपमनात्मनिर्द पनला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११७॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

कमल के डठल में नीचे से लेकर ऊपर तक जिस प्रकार सर्वाङ्गीण रूप से निर्मल तन्तु व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के अगूठे से लेकर मस्तक तक समस्त शरीर में आत्मा व्याप्त है। स्फटिक मणि की मूर्ति को जैसे स्थापित किया गया हो, उसी प्रकार निर्मल आत्मा समस्त शरीर में व्याप्त है ।॥११७॥

विवेचन— आत्मा का अस्तित्व समस्त शरीर में है, शरीर का ऐसा कोई भी भाग नहीं है जिसमें आत्मा न हो। यह आत्मा अखड, अविनाशी, निराकार, चिदानन्द स्वरूप है। इसमें संकोच और विस्तार की शक्ति है, जिससे यह जैसे छोटे या बडे शरीर मे पहुँचती है, उसी क प्रमाण हो जाती है। आत्मा को जैनाचार्यों ने इसीलिये शरीर प्रमाण माना है, यह व्यापक या अणुमात्र नहीं है। इसमें अनेक शक्तियों के साथ शरीर प्रमाण रहने की शक्ति भी है।

स्वभाव से आत्मा निर्मल और शाश्वत है, इसमें किसी भी प्रकार का मल नहीं लगा है। अनादिकाल से कर्मों के बन्धन में पड जाने के कारण आत्मा विकृत हो गयी है, परन्तु मूल स्वभाव

इसका शुद्ध ही है, उसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं आया है। बात यह है कि शुद्धात्मानुभूति के अभाव के होने पर यह आत्मा शुभ अशुभ उपयोगो से परिणामन करके जीवन, मरण, शुभ, अशुभ कर्म बन्ध को करती है और शुद्धात्मानुभूति के प्रकट होने पर शुद्धोपयोग से परिणत होकर मोक्ष को करती है तो भी शुद्ध परिणामिक स्वस्वभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से न बन्ध की कर्त्ता है और न मोक्ष की। शुद्धात्मा चेतन स्वभाव है, जडरूप नहीं है उपाधिरूप नहीं है। काम, क्रोध, प्रभृति विकार पर है, अपने नहीं हैं। यद्यपि संसारावस्था में अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से यह आत्मा काम, क्रोधादि रूप हो गयी है, पर शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा कभी भी निज भाव को नहीं छोडती। रागादि विभाव परिणाम औपाधिक है, पर के सम्बन्ध से है, निज भाव नहीं है, इसलिये आत्मा कभी रागादिरूप नहीं होती।

परमात्मप्रकाश में जीव की शुद्धाशुद्ध अवस्थाओं का निरूपण करते हुए बताया गया है कि यह जीव इन्द्रियजनित सुख को अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से अपना मानता है, वस्तुतः अतीन्द्रिय सुख ही जीव का अपना सुख है। जितनी पर्यायें विकार भाव से उत्पन्न होती है, वे सब अशुद्ध है, आत्मा की अपनी वस्तु नहीं। आत्मा वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर होने पर ही

अपने वस्तुरूप को पहचानता है। "*अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिक-वीतरागसौख्यात् प्रतिकूलं सासारिकसुखदुखं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापि शुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनितं भवति। आत्मा पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थः सन् वस्तु वस्तुरूपेण पश्यति जानाति च, न च रागादिकं करोति। अत्र पारमार्थिकसुखाद्वि-परीत सांसारिक सुखदु खविकल्पजालं हेयम्*"। अर्थात् आकुलता रहित पारमार्थिक वीतराग सुख से परान्मुख ससार के सुख दु:ख यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से जीव सम्बन्धी है, किन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा मे जीव ने उत्पन्न नहीं किये है, इसलिये जीव के नहीं है। कर्मसयोग मे उत्पन्न हुए है और आत्मा तो वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर हुई वस्तु को वस्तुरूप से देखती है, जानती है, रागादी रूप नहीं होती, उपयोगरूप है, ज्ञाता—द्रष्टा है, परम आनन्द रूप है। पारमार्थिक सुख से विपरीत इन्द्रिय जनित सासारिक सुख त्यागने योग्य है। यह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। अत प्रत्येक व्यक्ति को रत्नत्रय रूप आत्मा का श्रद्धान करना चाहिये।

नररात्म स्फटिकोपम गडमदेनाकारसुं स्वच्छमा-
गिरदेवर्मिगे केळिमा स्फटिकमेतैवरुणसुं सोके या-
परियोळ्तोरुगुवते मेय्य तोवलु कपीगे ता- ।
करिय केपनेनिप्पनेदरुपिदै रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मनुष्य को आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल है। विभिन्न रंगों के साथ उसका सम्बन्ध होने पर जिस प्रकार स्फटिक भी विभिन्न रंग का दिखाई पडता है उसी प्रकार काले पीले शरीर के चमडे के कारण लोग आत्मा को भी लाल पीला कहने लग जाते है। ॥११८॥

विवेचन— आत्मा स्वभाव से निर्मल, विशुद्ध, नित्य, ज्ञान-दर्शन सुख-वीर्य स्वरूप है। अनादि कर्म कालिमा के कारण यह आत्मा अशुद्ध हो रही है तथा नाना प्रकार के शरीरों को इसे धारण करना पड़ता है। इस आत्मा का कोई रूप रग नहीं है और न इसकी कोई जाति ही है, यह तो स्वभाव से निराकार है। इसमें शरीर के निमित्त से भेद किये जाते हैं। जैसे शरीर के आवरण में यह रहती है, इसका व्यवहार भी वैसा ही हो जाता है। कवि-वर बनारसीदास ने नाटक समयसार में आत्मा की शुद्धता और उसके रूप का सुन्दर वर्णन किया है—

जैसे वनवारी मे कुधातु के मिलाप हेन,
नाना भाँति भयो पै तथापि एक नाम है।

कसिकै कसोटी लीक निरखै सराफ तांही,
बानके प्रमान करि लेतु देतु दाम है ॥
तैसे ही अनादि पुद्गलसो सयोगी जीव;
नवतत्त्वरूप में अरूपी महाधाम है ।
दीसे उनमानसो उद्योत वान ठौर ठौर.
दूसरौ न और एक आतमाहि राम है ॥
जैसे रविमंडल के उदे महिमंडल में,
आतप अटल तम पटल विलातु है ।
तैसे परमातमा को अनुभौ रहत जो लो,
तो लो कहू दुविधा न कहूं पक्षपातु है ॥
नय को न लेश परवान को न परवेश,
निछेप के वेस को विधंस होतु जातु है ।
जे जे वस्तु साधक है तेउ तहा बाधक है,
बाकी रागदोष की दशा की कौन बातु है ॥

अर्थात्— सोने के साथ नाना वस्तुओ के मिला देने से सोना एक रूप में होते हुए भी भिन्न भिन्न रूप में हो जाता है, फिर भी उसका नाम सोना ही माना जाता है तथा सर्राफ कसौटी पर कस कर उस सोने का, उसकी अच्छाई और बुराई के आधार

पर मूल्य निश्चित कर देता है। उसी प्रकार अनादिकाल से यह आत्मा भी पुद्गल के साथ बंधी हुई चली आ रही है, फिर भी नौ पदार्थों में यही चेतन, ज्ञाता द्रष्टा के रूप में मानी जाती है। समस्त प्राणियों में यह आत्मागम दिखलायी पडता है। अभिप्राय यह है कि कर्म सयोग होने के कारण यह आत्मा नर, नारकादि पर्यायो में दिखायी पड रही है, पर वास्तव में यह शुद्ध नित्य और चैतन्य है। कर्म की उपाधि के कारण इसमे भेद हो गया है।

जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है और सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है इसी प्रकार आत्मा रूप परमात्मा का अनुभव हो जाने से सशय, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि सब नष्ट हो जाते है। नय, प्रमाण निक्षेप आदि क द्वारा होनेवाली भेद चर्चा भी लुप्त हो जाती है, ऐसी अवस्था में राग-द्वेष की बात ही क्या। अर्थात् जबतक भेदविज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तबतक इस जीव में औपाधिक भेद दिखलायी पडते है, भेदविज्ञान--आत्मा और कम का यथार्थ ज्ञान होते ही शुद्ध आत्मा की प्रतीति होने लगती है।

स्वच्छाकारद जीवनी तनुविनोळ्तानेके सिल्किर्दपं ? ।
स्वेच्छामार्गदे तानुपार्जिसिद कर्माधीनदि कर्मसुं ।।
तुच्छं क्रोधदेमानमायेगळिना लोभार्थदि वंदुदे ।
म्लेच्छाकार कपायमं सुडे सुखं रत्नाकराधीश्वरा ! ।।११९।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

निर्मल जीवात्मा शरीर के बन्धन में क्यों फंसा ? अपनी इच्छा के अनुसार किये हुए कार्य के फल-स्वरूप ही उसको ऐसा बन्धन प्राप्त हुआ। नीच कर्म, राग, अहंकार और कपट से ही यह परिणाम हुआ। दुष्टों की क्रूरता के समान सभी हेय कषायों को जबतक भस्मसात् नही किया जाय तब तक इस बंधन से मुक्ति तथा सुख की प्राप्ति नही हो सकती। ।।११९।।

विवेचन — आत्मा का स्वरूप शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों ने आत्मा के स्वरूप को अच्छादित कर दिया है। मोहनीय कर्म ने इस जीव को विपरीत स्वभाव का बना दिया है, इस कारण ससारी आत्मा अपने असली स्वभाव का अनुभव नहीं कर पाता है। जब यह दोष और आवरण आत्मा से हट जाता है तो आत्मा अपने निज शुद्धरूप का अनुभव करने लगता है।

आत्मा का कर्मों के साथ बन्ध अशुद्ध अवस्था में हुआ है। यह अशुद्धि अनादिकाल से चली आ रही है। यदि कर्मबन्ध के पहले आत्मा को शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता है,

क्योंकि बन्ध अशुद्ध परिणामों से होता है। अनादिकालीन अशुद्धता माने बिना बन्ध हो नहीं सकता है। यदि शुद्ध अवस्था में बन्ध माना जाय तो मुक्तात्माओं को भी कर्मबन्ध का प्रसग आयेगा और ससारी तथा मुक्त जीव में अन्तर ही नहीं रहेगा। बन्ध कार्य है, इसक लिये अशुद्धता रूपी कारण की आवश्यकता है, तथा अशुद्धता रूपी कार्य क लिये पूर्व बन्ध रूपी कारण की आवश्यकता है, अत. बीज और वृक्ष के अनादि सम्बन्ध के समान बन्ध और अशुद्धता का भी अनादि सम्बन्ध चला आ रहा है।

कर्मबन्ध के कारण आत्मा में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, जिससे कर्म बन्ध होता है। कर्म बन्ध से शरीर और इन्द्रियाँ प्राप्त होती है, इन्द्रियों से विषय ग्रहण करने से अशुद्धि आती है, इस प्रकार कनकोपल के समान यह आत्मा अनादिकाल से अशुद्ध चली आ रही है। अभिप्राय यह है कि आत्मा और कर्मों का बन्ध, केवल दोनो के सम्बन्ध मात्र से नहीं होता है, बल्कि दोनों के अशुद्ध भावों से होता है तथा दोनों की परस्पर अपेक्षा भी रखता है।

बन्ध दो तरह का होता है। एक तो वह है जो वस्तुओं के मेल हो जाने से ही होता है। जैसे पत्थरों का पत्थरो के साथ सम्बन्ध होने से होता है, यह बन्ध घनिष्ठ नहीं है। क्योंकि सूक्ष्म पत्थर अपने सजातीय सूक्ष्म पत्थर के साथ तादात्म्य रूप से सम्बद्ध

हीं है। कर्म और आत्मा का यह बन्ध नहीं होता। दूसरा
न्ध चूने के लगाने से पत्थरों का जो आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध
ोता है, जिसमें सभी पत्थर एक रूप में हो जाते है, प्रदेशात्मक है।
ीव और कर्मों का यही प्रदेशात्मक बन्ध होता है।

जीव में वैभाविक शक्ति रहने के कारण बन्धने की शक्ति है
तथा पुद्गलरूप कर्माण वर्गणाओं में जीव को बांधने की शक्ति
र्तमान है। जीव और कर्म इन दोनों में बधने और बांधने की
ुक्ति होने के कारण ही आत्मक्षेत्र में बन्ध हो जाता है। कारण
पष्ट है कि जीव और पुद्गल इन दोनों में वैभाविकी शक्ति वर्त-
ान है, जिससे इन दोनों द्रव्यों का ही प्रदेशात्मक बन्ध होता है,
अन्य द्रव्यों का नहीं।

आगम में बन्ध के तीन भेद बताये है—भावबन्ध, द्रव्यबन्ध
और उभयबन्ध। आत्मा का रागद्वेष रूप परिणाम भावबन्ध और
बन्धने की शक्ति रखनेवाली पुद्गल वर्गणाएँ, द्रव्यबन्ध कहलाता
है। भावबन्ध के निमित्त से पौद्गलिक कर्म और जीव प्रदेशों
का एक रूप में मिलजाना उभयबन्ध है। जीव अपने पुरुषार्थ
द्वारा इस कर्म बन्धन को तोड़ने पर ही स्वतन्त्र होता है।

बतायी गयी है। रत्नत्रय के पूर्ण हो जाने पर उत्तर क्षण में मोक्ष की प्राप्ति हो ही जाती है। योगशक्ति वैभाविक दशा से शुद्धावस्था में यहीं आती है, अतः निर्वाण प्राप्ति भी रत्नत्रय की पूर्णता से होती है।

आत्मा को शुद्ध करने के इस रत्नत्रय के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्म विश्वास, आत्मा का ज्ञान और सदाचार रूप आत्माचरण का पालन करना आवश्यक है। तीर्थंकर भगवान् ने भी इस रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण कर ही जय प्राप्त की है।

जोन्नंवोल् नयनक्के तोरि करदिद मुट्टलिल्लाद सं-
पन्नाकारदोळिर्द्द विमलसिद्धक्षेत्रदोळ्सिद्धन- ॥
च्छिन्नज्ञानसमेतनष्टगुणगाभीर्यात्मनंदिच्छेयि ।
निन्न ध्यानिसुवंगे मुक्तियरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सम्पूर्ण ज्ञान के साथ रहनेवाले, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व के आठ गुणों से युक्त तथा गम्भीर स्वरूपवाले, जिस प्रकार चन्द्र-ज्योत्स्ना आँखों द्वारा देखी जाती है, उसी प्रकार ज्ञानादि सम्पत्ति से युक्त, निर्मल और सिद्ध अवस्था में रहनेवाले और प्रेम से आपका ध्यान करनेवाले को क्या मोक्ष असाध्य है ? ॥१२१॥

विवेचन— समस्त कर्मों को नाश कर मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर आत्मा में स्वाभाविक आठ गुण प्रकट हो जाते हैं। परम सुख, शान्ति और पूर्ण स्वतन्त्रता इस मोक्ष में ही वर्तमान है इसकी प्राप्ति के लिये ही जीव अनादिकाल से जब तब प्रयत्न करता चला आ रहा है। मोक्ष की प्राप्ति रत्नत्रय की पूर्णता होने पर ही होती है तथा इसके लिये मुनिपद धारण करना पड़ता है। गृहस्थावस्था में रहकर कोई भी व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिये तैयारी कर सकता है। भेदविज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना तथा निरन्तर आत्मद्रव्य को संसार के

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] रत्नाकराधीश्वर ! ॥[illegible]॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

[illegible] करनेवाले हैं। आपके इन गुणों के [illegible] में सोना और रत्नों के प्रकाश से [illegible] कर्णिका [illegible], प्राप्त किया था ॥[illegible]॥

विशेष— प्रयत्न करने पर कोई भी व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है। तीर्थंकर ने भी समवशरण में जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर ध्यान द्वारा घातिया कर्मों को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त किया है। उनकी तरह निर्वाण प्राप्त ही है, क्योंकि संसार अवस्था में जय नहीं, जय स्वतन्त्र होने पर ही हो सकती है। मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय है इसकी प्राप्ति के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता।

रत्नत्रय में सबसे पहला स्थान सम्यग्दर्शन का है, क्योंकि इसकी प्राप्ति के बिना एक कदम भी इस मार्ग में नहीं बढ़ा जा सकता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ-साथ उत्पन्न

होते है, क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होते ही कुमति, कुश्रुत आदि अज्ञानों की निवृत्ति हो जाती है, जिससे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि सम्यग्ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। यों तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से होती है, पर ज्ञान में सम्यक्पना सम्यग्दर्शन के होने पर ही आता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति चौथे गुणस्थान ' में होती है और उसकी पूर्ति सातवें गुणस्थान मे नियमत हो जाती है, परन्तु ज्ञान की पूर्णता बारहवें गुणस्थान के अंत मे तेरहवें के प्रारम्भ मे होती है।

सम्यक्चारित्र पॉचवें गुणस्थान में उत्पन्न होता है। चारित्र की पूर्ति तेरहवें गुणस्थान के अंत में होती है। यद्यपि स्वरूपाचरण चारित्र सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर प्राप्त हो जाता है, पर क्रियारूप चारित्र पॉचवें गुणस्थान में होता है। यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति बारहवें गुणस्थान मे हो जाती है। तेरहवें गुणस्थान में योग के रहने के कारण चारित्र निर्दोष नहीं माना जाता है, क्योंकि कर्म को ग्रहण करनेवाला योग मौजूद रहता है। यद्यपि यहाँ कर्मों का आस्रव चारित्र को अशुद्ध नहीं बनाता है, फिर भी आत्मा को अशुद्ध करने के समान यहाँ चारित्र भी अशुद्ध माना गया है। इसीकारण यथाख्यात चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान मे

क्षमे माळ्पंते विरोधमे कुडुवदेसंतोपमंतत्त्व शा-
स्त्रमे माळ्पंतेकुशास्त्रमे कुडुवदे सुज्ञानमं मोक्ष रा- ॥
ज्यमे माळ्पंते चतुःस्थळं कुडुवदेसिद्धत्वमं निम्म ध-
र्ममे कावंतेनगन्यरें पोरेवरे रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सहनशीलता से विजय प्राप्त करने मे आनन्द आता है। यह आनन्द राग द्वेष से प्राप्त नही हो सकता। वस्तु स्वरूप का यथार्थ विवेचन करनेवाले शास्त्र ही ज्ञान को उत्पन्न कर सकते है। मिथ्या शास्त्र ज्ञान नही दे सकते। जिस प्रकार मोक्ष स्थान ही सिद्ध स्वरूप को उत्पन्न करता है उस प्रकार नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ सिद्ध स्वरूप को उत्पन्न नही कर सकती। अत: जिस प्रकार आपका धर्म मेरी रक्षा कर सकता है क्या उस प्रकार कोई अन्य वस्तु मेरी रक्षा कर सकती है ? ॥१२२॥

विवेचन— कषाय और विकारों के जीतने से ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति की जा सकती है। इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है, वह असंयम या अकल्याणकारी नहीं किन्तु इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने पर जो रागद्वेष रूप परिणाम होते हैं, वे ही असयम करनेवाले और अकल्याणकारी है। राग-द्वेष रूप परिणामो को रोकना ही कल्याण मार्ग का पथिक बनता है। ससार से छुटकारा पाने के लिये सयम को धारण करना आवश्यक है, क्योकि रागद्वेष रूप प्रवृत्ति को संयम ही रोक सकता है।

सयम के दो भेद है— इन्द्रिय सयम और प्राणी संयम। इन दोनों सयमों में पहले इन्द्रिय संयम धारण करना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियों के वश हो जाने पर प्राणियों की रक्षा अपने आप हो जाती है। इन्द्रिय सम्बन्धी लालसाओं का रुकजाना ही इन्द्रिय संयम कहलाता है। षट्काय के—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवो की रक्षा करना प्राणी सयम है।

इन्द्रियों की लालसा के बढ़ने से ही नाना प्रकार के अनर्थ होते है। इन्द्रियाधीन होकर ही मनुष्य अभक्ष्य भक्षण करता है, निन्द्य पदार्थों का सेवन करता है। जान-बूझ कर भी इन्द्रियों के आधीन होकर व्यसन सेवन करता है, जिससे भयंकर रोगों का शिकार होता है तथा धन-सम्पत्ति बरबाद कर संसार में कष्ट पाता है, अपकीर्ति होती है। अतः इन्द्रिय और मन को आधीन करना चाहिये। अनर्थ की जड इन्द्रियाधीनता को छोडने के लिये सत शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। क्योंकि ज्ञान विषय-दवाग्नि को शान्त करने के लिये वर्षा के समान है, इससे जीव की सभी आकुलताएँ और व्याधियाँ नष्ट हो जाती है।

कुशास्त्रों के अध्ययन और मनन से राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति और अधिक बढ़ती है, तथा जीव अधर्म की ओर चला जाता

समस्त पदार्थों से भिन्न, अलौकिक शक्तिधारी सोचना और तदनु-कूल आचरण करना ही गृहस्थावस्था का पुरुषार्थ है। शरीर और भोगो से परम उदासीनता धारण करना एव परिणामों में विरक्ति लाना गृहस्थ जीवन में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये साधन हैं।

ज्ञानी अपनी आत्मा को सदा देखता है कि यह समस्त कर्म बन्धना से रहित है, किसी से मिली नहीं है, शुद्ध है, आकाश की तरह निर्मल और परिग्रह से रहित है। अतीन्द्रिय सुख, अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य की मूर्ति है। वह सोचता है कि इन्द्रिय सुख अनित्य है, इसमें एक क्षण के लिये भी शान्ति नहीं। यह सुखाभास है, कालान्तर मे दुःखरूप ही परिणमन करता है। आत्मद्रव्य कभी भी अन्यद्रव्यरूप परिणत नहीं हो सकता है। यह नियम अटल है कि कोई भी पदार्थ किसी भी दूसरे पदार्थ के साथ कभी भी तन्मय नहीं होता है। प्रत्येक वस्तु अपनी पृथक् सत्ता को धारण किये है। अतः अमूर्तिक आत्मा अपने स्वरूप और आकार को भी नहीं छोडती है, शरीर के साथ मिलने पर भी यह आत्मा मूर्तिक नहीं हो सकती है। यद्यपि शरीर के साथ बन्धी हुई यह आत्मा मालूम पडती है, पर वह इस का स्वरूप नहीं। शरीर पुद्गल है, जड है और न उसमें चेतन क्रिया पायी जाती है।

आत्मा का स्वरूप चेतन है, जानने-देखने की शक्ति आत्मा में ही पायी जाती है, उसीके निमित्त से कार्य होते हैं। अतः आत्मा कभी भी शरीररूप नहीं हो सकती है और न शरीर ही कभी आत्मरूप हो सकता है। गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में इसीका स्पष्टीकरण किया है—

न कोप्यन्योन्येन व्रजति समवायं गुणवतां,
गुणी केनापि त्व समुपगतवान् रूपमिरमा ।
न ते रूप ते यानुपव्रजसि तेषां गतमति
स्ततश्छेद्यो भेद्यो भवासि बहुदुःखे भववने ॥

कोपि गुणी द्रव्यं गुणवता अपरद्रव्येण अन्योन्यं समवायं तन्मयत्वं न व्रजति । द्रव्यस्वभावोऽयम् ।

अर्थात्— कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य द्रव्य के स्वभाव को नहीं प्राप्त होता है, शरीर इस आत्मा का स्वरूप नहीं है, जो भ्रमवश इस शरीर को अपना मान रहा है, इसीसे छेदन, भेदन, आदि नाना प्रकार के कष्ट भोग रहा है। अत प्रत्येक व्यक्ति को परद्रव्यों से भिन्न अपने को स्वतन्त्र समझना चाहिये।

है। अपने स्वभाव से च्युत होकर परस्वभाव को ग्रहण करता है। कविवर बनारसीदास ने सच्चे शास्त्र का स्वाध्याय व श्रवण न करनेवाले का सुन्दर वर्णन किया है।

ताको मनुज जनम सब निष्फल; मन निष्फल निष्फल जुगकान।
गुण अरु दोष विचार भेद विधि; ताहि महा दुर्लभ है ज्ञान॥
ताको सुगम नरक दुःख संकट; अगमपथ पदवी निर्वान।
जिनमत वचन दयारस गर्भित जे न सुनत सिद्धान्त बखान॥

अर्थात्—उसका मनुष्य जन्म निष्फल है, मन और दोनों कान भी निष्फल है तथा वह गुण और दोषों का भी विचार नहीं कर सकता है, समस्त दुःख और सकट भी वह सहन करता है जो दया गर्भित जिनागम का स्वाध्याय नहीं करता।

निन्नं चितिसुतिर्पवंगे परदेशं तन्नदेश परर् ।
तन्निष्टर् पगेगळ्भरदोंरेगळात्मस्नेहि तर्किष्टु बा-।।
वन्न व्याधि सुखं विपं सुधेयनिक्कुं नोडे नीनिर्दु मा-
निन्नादक्केळसिर्पेनेकयकटा रत्नाकराधीश्वरा ।।१२३।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

जो आपका ध्यान करता है उसको दूसरा देश भी अपना ही देश-सा जान पड़ता है। अन्य लोक आत्म इष्ट-सा दीख पड़ता है। युद्ध करनेवाला शत्रु राजा मित्र बन जाता है, अग्नि चन्दन-सी शीतल हो जाती है। विष अमृत के रूप मे परिवर्तीत हो जाता है। आप को इतना महिमान्वित होने पर भी आप को छोड कर मनुष्य इधर उधर क्यों भटकता फिरता है ।।१२३।।

विवेचन— तीर्थंकर प्रभु की अपार महिमा होती है। उनकी सेवा और स्मरण से असभव कार्य भी सिद्ध हो जाते है। यद्यपि सभी भव्य आत्माओं मे निर्वाण प्राप्त करने की शक्ति वर्तमान है, पर जो रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण करते है, वे कभी न कभी निर्वाण को प्राप्त कर ही लेते है।

ससार के सभी प्राणी सुख चाहते है, और इस सुख के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहते है। परन्तु यह सुख तब तक नहीं प्राप्त हो सकता है, जब तक जीव सुखबाधक अनिष्ट कर्म को नष्ट न कर दे। अनिष्ट कर्मों का नाश एक मात्र सच्चे चारित्र से होता

है। तथा यह चारित्र भी बिना ज्ञान के प्राप्त नहीं हो सकता है। ज्ञान भी तभी सच्चा माना जायगा जब आत्म विश्वास उत्पन्न हो जाय और अनात्मिक भावनाएँ जीव से पृथक् हो जायें। जब कोई भी व्यक्ति अपने स्वरूप का विश्वास कर लेता है, अपनी आत्मा को संसार के पदार्थों से भिन्न और स्वतंत्र अनुभव करता है, उस समय उसे अपूर्व शान्ति मिलती है। कविवर बनारसीदास ने इस बात को स्पष्ट करते हुए बताया है—

करम के चक्र में फिरत जगवासी जीव ह्वै
रह्यो वहिर मुख व्यापत विषमता।
अंतर सुमति आई विमल बड़ाई पाई
पुद्गल सों प्रीति टूटी छूटी माया ममता॥
शुद्ध नै निवास कीन्हो अनुभौ अभ्यास लीन्हो,
भ्रमभाव छांडि दीनो भीनो चित्त समता।
अनादि अनंत अविकल्प अचल ऐसो,
पद अवलम्बी अवलोके राम रमता॥

अर्थात्— कर्म के चक्र के कारण यह जीव बहिर्मुख होकर के संसार में जन्म-मरण के दुःख उठा रहा है। जब इसके अंतरंग में सुबुद्धि आ जाती है, तो यह बड़प्पन को प्राप्त होता

हुआ पुद्गल से माया-ममता को छोड देता है। आत्मानुभूति के आ जाने से यह शुद्ध होजाता है और समस्त भ्रम भाव दूर हो जाते है तथा समता इसके हृदय में उत्पन्न हो जाती है। जिस दृष्टि की विषमता ने जीव को इतना दु:खी बनाया था, जिससे वह अपने स्वरूप को भी नहीं देख सकता था, वह विषमता निकल जाती है। तथा अनादि, अनन्त, अचल और अविनश्वर अपने स्वरूप में रमण करता है।

इसमें भेदविज्ञान के आजाने से राग-द्वेष, मोह जिनके कारण आस्रव हो रहा था, की उत्पत्ति नहीं होती है। चित्तभूमि निर्मल, स्वच्छ और विकार रहित हो जाती है। कर्म चेतना और कर्मफल चेतना इन दोनों का अभाव हो जाता है तथा ज्ञान चेतना का अनुभवी जीव बन जाता है। ज्ञानचेतना के प्रकट होते ही भ्रम बुद्धि निकल जाती है, जिससे मिथ्यात्व, मोह, अज्ञान आदि दूर हो जाते है। जैसे दीपक काजल को अपने में से बाहर करता हुआ, प्रकाश को फैलाता है, उसी प्रकार से भेदविज्ञानी कर्मरूप कालिमा को अपने से बाहर निकालता हुआ, स्व-पर ज्ञान का विस्तार करता है। चारित्र, ज्ञान और श्रद्धा ये तीनों ही समुदित अवस्था में जीव के अनात्मीय भावों का परिष्कार कर उसे स्वावलम्बी बनाते है। अतएव रत्नत्रय धारी जीवों का आश्रय लेने से व्यक्ति अपना उद्धार करने में समर्थ होता है।

नीनानेवरिवागे साकु सिरिये दारिद्र्यमे ग्राममे ।
काने पालुगिसे कदन्नदुनिसे निबधमें राज्यमे ॥
ई नानाविधियेल्लवुं कनसिव कोडेनो निन्नेन्न सं-
धान नित्यसुकेकविन्नुळिदुव रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सम्यक्ज्ञान का हो जाना ही पर्याप्त है। इसके बाद ऐश्वर्य, गॉव, जगल, दूध की रबडी, स्वादिष्ट आहार, कैदखाना, राज आदि चीजे निष्प्रयोजनीय हैं। इनको स्वीकृत करने से कोई लाभ नही है। आपका और मेरा ऐक्य सम्बन्ध ही शाश्वत और मुख्य है, और इसीमें बहुत बडा सुख है, शेष संसार से कोई प्रयोजन नही। ॥१२४॥

विवेचन--ज्ञानमयी आत्मा को छोडकर जो अन्य पदार्थ का ध्यान करते है, वे अज्ञानी है। ज्ञान के जागृत हो जाने पर आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि होती है, अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये। भौतिक पदार्थों से सुख और शान्ति नहीं मिल सकती है, क्योंकि ज्ञान स्वरूप आत्मा की प्राप्ति ही स्वाधीनता है, इसमें कोई विघ्न नहीं है, भोगो का अनुराग पराधीनता है। समयसार में आचार्य ने कहा है कि हे जीव तू आत्मस्वरूप में सदा लीन हो, और इसीमें सदा सन्तुष्ट रह, इसीसे तुझे तृप्ति होगी और शान्ति प्राप्त कर सकेगा। मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि बाह्य पदार्थों का अवलम्बन इस जीव की स्वाधीनता का अपहरण

लाभ, अलाभ में समान रहना एव परपदार्थों से अपने को पृथक् समझना आवश्यक है। परपदार्थों के सम्बन्ध से चिन्ता उत्पन्न होती है, उससे शरीर में दाह उत्पन्न होता है, जिससे राग द्वेष रूपी कल्लोलें रत्नत्रय को दूषित करती है। अभिप्राय यह है कि वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि की भावना मे विपरीत रागादि अशुद्ध परिणाम पर द्रव्य है, इनका त्याग ही सच्चा विवेक है, इसीके द्वारा जीव अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि करता है। यों तो पर द्रव्य आत्मा के लिये भावकर्म, द्रव्यकर्म और नो कर्म हैं, क्योंकि आत्मस्वरूप को ये विकृत करते है। आत्मा जब इन कर्मों से मुक्त हो जाती है, तभी स्वतन्त्र होती है। जिनेन्द्र प्रभु ने आत्मस्वतन्त्रता को प्राप्त कर लिया है तथा हमारी आत्मा में शक्ति की अपेक्षा से स्वतन्त्रता वर्तमान है, अतः हम भी कालान्तर में अपने पुरुषार्थ द्वारा भगवान् हो सकते है। सभी भव्य आत्माएँ शक्ति की अपेक्षा भगवान् है।

नडेदे चित्तके वंदवोलनुडिदे नां वायूगिच्छे वंदते से-
गेडेदे दुःखसमुद्रद ळ्पडेनधं कण्गळं पेत्तवोल् ॥
बिडेनिम्मग्रिगळंविडे बिडेनुदारं नीनहो ! बल्लेने-
न्नोडेया ! रक्षिसु रक्षिसा तळुविदे रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जैसा मन में आया वैसा मैने निवेदन किया। कष्ट के समुद्र में धैर्य बध गया। जिस प्रकार अन्धे को आँख मिलती है, मैंने भी आप को वैसे ही प्राप्त किया है। आप के चरण को नहीं छोड़ूगा, कदापि नहीं छोड़ूँगा हे प्रभो !। मै आप को श्रेष्ठ समझता हूँ। देरी न करो, रक्षा करो, रक्षा करो प्रभो ! ॥१२५॥

विवेचन— ससार के दुःख से पीडित भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे वीतरागी भगवान् आप राग-द्वेष से रहित है, फिर भी आपके गुणों के चिन्तन से मुझे अपने गुणो का आभास हो जाता है, मै अपने गुणों को प्राप्त कर लेता हूँ। भगवान् को कर्त्ता-धर्त्ता मानकर उनको स्तुति करना मिथ्यात्व का कारण है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव भगवान् की अर्चा, उनका गुणानुवाद पुत्र प्राप्ति की इच्छा, धन लाभ की कामना, स्वर्गादि सुखों को पाने की लालसा से करता है। किन्तु उसका यह धार्मिक क्रिया-काण्ड नाना प्रकार के कष्टों को देनेवाला एवं ससार भ्रमण का कारण होता है। सम्यग्दृष्टि जीव का प्रत्येक धर्माचरण कषायों और मन, वचन एवं काय के व्यापार को रोकने में सहायक होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन निमित्तो से होनेवाले आस्रव को रोक कर, नित्यानन्द सुखामृत स्वरूप अपने निज रूप को प्राप्त करता है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह भेदरूप संज्ञाएँ तथा अन्य प्रकार के समस्त विभावों को अपने से अलग करता हुआ जन्म-मरण-तृषा-क्षुधा आदि अठारह दोषो से रहित परमात्मा का ध्यान करता है। यह परमात्मा शुद्धात्मा से भिन्न कोई विलक्षण शक्तिधारी नहीं है, बल्कि अपने शुद्धात्मा स्वरूप ही है।

आठ मद, आठ मल, छ. अनायतन और तीन मूढताएँ, ये पच्चीस दोष सम्यग्दर्शन के है। मिथ्यादृष्टि इन दोषों के आधीन होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पच परावर्तन निरन्तर करता रहता है। ऐसा कोई शरीर नहीं जो इसने धारण न किया हो, ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ यह उत्पन्न न हुआ हो तथा जहाँ इसका मरण न हुआ हो, ऐसा कोई समय नहीं जिसमें इसने जन्म मरण न किया हो, ऐसा कोई भव नहीं जो इसने न पाया हो। अत अब मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यग्दर्शन को ग्रहण करना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि का आचरण सर्वदा आत्मोन्मुख रहता है, वह आत्मरुचि रखता हुआ प्रत्येक कार्य मे प्रवृत्त होता है। जो सहजा-

नन्द ज्ञान स्वभाव रूप आत्मस्वरूप से विपरीत आचरण करता है, वह नरक, तिर्यञ्च गति को प्राप्त होकर दुःख पाता है। परमात्म-प्रकाश में कहा गया है।—

"सहज शुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशाद्विपरीतेन छेदनादिनारकातिर्यग्गतिदुःखदानसमर्थेन पापकर्मोदयेन नारकातिर्यग्गतिभाजनो भवाति जीवः। तस्मादेव शुद्धात्मनो विलक्षणेन पुण्योदयेन देवो भवाति। तस्मादेव शुद्धात्मनो विपरीतेन पुण्यपापद्वयेन मनुष्यो भवाति। तस्यैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन मुक्तो भवाति।

अर्थात्— यह जीव सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव जो परमात्मा है, उससे विपरीत जो पापकर्म उसके उदय से नरक और तिर्यञ्च गति का पात्र होता है। आत्मस्वरूप से विपरीत शुभ कर्मों के उदय से देव और दोनों के मेल पुण्य-पाप कर्म के मिश्रित उदय से मनुष्य होता है। ज्ञान-दर्शन रूप शुद्धात्मा के अनुभव से यह जीव निर्वाण को प्राप्त करता है। यही इसका वास्तविक रूप है।

त्रिभुवन स्वामी, शीलसिन्धु अमल, अविनाशी, पुंडरीक, निराकार, लोकप्रमाण, रमापति, रमाविराम, कृपासिन्धु, करुणाधाम, परमदेव, ज्ञानगर्भ, नित्यानन्द, अजर, अजीत, अवपु विषयातीत, धर्मधुन्धर, धर्मविधान, चिन्तामणि, परमव्योम, चिन्मूर्ति, चिद्विलास, चिन्मय, चूडामणि, चारित्रधाम, निर्भोग, निरास्रव, अनन्त, मेधापति, व्रज-भूषण, विश्वम्भर, दयानिधि, गुणपुञ्ज, गुणाकर, सुखसागर, जगत-बन्धु, जगतपति, जगवन्दन, गुणकदम्ब, बन्धविनाशक आदि नामो से भगवान् का स्मरण किया गया है। ये सभी नाम सार्थक है। भगवान् में कर्मबन्धन नष्ट होने से इस प्रकार क अनन्तगुण वर्तमान है, जिससे उनके अनन्तानन्त नाम रखे जा सकते है।

शुद्धात्मारूप भगवान् का स्मरण करने से जीव का उद्धार होता है, वह अपने उद्धार का मार्ग निकाल लेता है तथा स्वाव-लम्बी बन जाता है। गुणों क स्मरण और चिन्तन से जीव को अपनी दशा का परिज्ञान होता है तथा द्रव्यो के स्वरूप को समझ कर अपने आत्मद्रव्य को पृथक् अनुभव करता हुआ आत्मविकास के मार्ग में बढ़ता है। भेदविज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे द्रव्यो की स्वतन्त्रसत्ता का बोध हो जाने से व्यक्ति को बडी भारी शान्ति मिलती है। आकुलता समाप्त हो जाती है तथा अहकार और ममकार की भावनाएँ जीव से अलग हो जाती हैं, विकार और वासनाएँ नष्ट होकर आत्मा निर्मल निकल आती है।

वैराग्यनीति यात्म
विचार ता वगेदु नोडे राजिसुगुं शृ- ॥
गारकवि हसराजं ।
पूरिसिद सपाद शतकरत्नाकरदोळ् ॥१२८॥

स्वयं विचार करके देखने से श्रृङ्गार हंसराज कृत सपाद शतक रत्नाकर ग्रंथ में वैराग्य और नीति—आत्म-विचार झलकता है । ॥१२८॥

श्रीमद्देवेंद्रकीर्तियोगीश्वर पादाभोजभृंगायमान श्रृंगारकवि-
हस राजविरचितमप्परत्नाकरसपाद शतकं समाप्तम् ॥

श्रीमद्देवेन्द्र कीर्ति योगीश्वर के चरण कमल में भ्रमर के सदृश रहनेवाले श्रृङ्गार कवि हंसराज विरचित "रत्नाकर सपाद शतक" ग्रंथ समाप्त हुआ ।

त्रिजगत्स्वामि जिनेन्द्र सिद्धशिवलोकाराध्यसर्वज्ञ शं-
भु जगन्नाथ जगत्पितामह हर श्रीकांत वागीश वि-- ॥
ष्णु जितानगं जिनेश पश्चिमसमुद्राधीश्वरा वेगदि--
निजम तोरु दयाळुवे तळुविदे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२६॥

त्राहि त्रैभुवनद्र मस्तकमणिव्रातार्चिताम्रिद्वया ।
त्राहि श्रीरमणीनटन्नटनरंगश्रीपादाब्जोभया ! ॥
त्राहि त्राहि महेशमा पुनरपि त्राहीति रत्नत्रया ! ।
देहि त्व मम दीयता जयजया ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

तीनों लोक के स्वामी, जिनेश्वर, सिद्धि को प्राप्त, सिद्ध क्षेत्र में रहनेवाले पूज्य, सभी विषयों के ज्ञाता, सुख के आदि स्थान, लोक के पितामह, कर्मों को नष्ट करनेवाले, ज्ञानरूपी सम्पत्ति के अधिपति, केवलज्ञान के धारी, ज्ञान द्वारा व्यापक, काम रूपी शत्रु के विजेता, कर्म का नाश करनेवाले अधिपति, पश्चिमी समुद्र के अधिपति, हे रत्नाकराधीश्वर ! शीघ्रता पूर्वक यथार्थ रूप को आप बता दें, हे दयाशील ! इसमें देरी क्यों ॥१२६॥

हे रत्नाकराधिश्वरा !

अधो मध्य, उर्ध्वलोक के अधिपति के मस्तिष्क के किरीट में रहनेवाले रत्नसमूह से पूजनीय चरणवाले हे रत्नाकराधीश्वर ! मेरी रक्षा करो, लक्ष्मी रूपी नर्तकी के नर्तन के रंगस्थल और शोभा युक्त ऐसे चरण करनेवाले रत्नाकराधीश्वर ! मेरी निरन्तर रक्षा करो । आप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त रत्नत्रय के धारी हैं । हे प्रभो, आप मेरी रक्षा करें । आप कृपया मुझे रत्नत्रय को दे देवें । आप सर्वश्रेष्ठ होकर सदा विद्यमान रहें । ॥१२७॥

विवेचन— भगवान् के १००८ नाम है। भक्त भक्ति के आवेश में आकर विभिन्न नामों के द्वारा वीतरागी प्रभु की वदना करता है, उनसे व्यावहारिक दृष्टि से अपने उद्धार की आकांक्षा करता है, वास्तव में भगवान् कुछ करने-धरनेवाले नहीं है। भक्त अपनी भावनाओं की पवित्रता से ही स्वय अपना कल्याण करता है। स्वय अपने भावो का कर्त्ता है तथा अपने उदय मे आनेवाले कर्मफल एव ज्ञानादि चैतन्य भावों का भोक्ता है। भगवान् को करुणासागर और कृपानिधान इसीलिये कहा गहा है कि उन्होंने अपने जीवन में अहिंसा को पूर्णरूप से उतार लिया है, जिससे उनके द्वारा किसी भी प्राणी का अहित नही होता है। वे सभी प्राणियों का हित चाहते है, और अपनी वीतरागता से छोटे से छोटे प्राणी का भी अहित नहीं होने देते है।

शकर, विष्णु और ब्रह्मा भी भगवान् जिनेन्द्र के नाम बताये गये है। क्योंकि संसार का कल्याण करने के कारण ही शंकर कहलाते है। प्रभु की दिव्यध्वनि से चराचर सभी जीव अपना हित साधन करते है। ससार के दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय रत्नत्रय मार्ग ही है, इसका उपदेश भगवान् जिनेन्द्र ने दिया है, अतः वे शंकर और विष्णु है। समवशरण में उनका चारों ओर मुख दिखलायी पडता है अतः वह चतुर्मुखी ब्रह्मा है। मुक्ति-पद को प्राप्त करने के कारण ही जिनेन्द्र प्रभु ब्रह्मा कहलाते है।

त्रिभुवन स्वामी, शीलसिन्धु अमल, अविनाशी, पुडरीक, निराकार, लोकप्रमाण, रमापति, रमाविराम, कृपासिन्धु, करुणाधाम, परमदेव, ज्ञानगर्भ, नित्यानन्द, अजर, अजीत, अवपु विषयातीत, धर्मधुन्धर, धर्मविधान, चिन्तामणि, परमक्षेम, चिन्मूर्ति, चिद्विलास, चिन्मय, चूडामणि, चारित्रधाम, निर्भोग, निरास्रव, अनन्त, मेधापति, व्रज-भूषण, विश्वम्भर, दयानिधि, गुणपुञ्ज, गुणाकर, सुखसागर, जगत-बन्धु, जगत्पति, जगवन्दन, गुणकदम्ब, बन्धविनाशक आदि नामों से भगवान् का स्मरण किया गया है। ये सभी नाम सार्थक है। भगवान् में कर्मबन्धन नष्ट होने से इस प्रकार के अनन्तगुण वर्तमान है, जिससे उनके अनन्तानन्त नाम रखे जा सकते है।

शुद्धात्मारूप भगवान् का स्मरण करने से जीव का उद्धार होता है, वह अपने उद्धार का मार्ग निकाल लेता है तथा स्वाव-लम्बी बन जाता है। गुणों के स्मरण और चिन्तन से जीव को अपनी दशा का परिज्ञान होता है तथा द्रव्यो के स्वरूप को समझ कर अपने आत्मद्रव्य को पृथक् अनुभव करता हुआ आत्मविकास के मार्ग में बढ़ता है। भेदविज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे द्रव्यों की स्वतन्त्रसत्ता का बोध हो जाने से व्यक्ति को बडी भारी शान्ति मिलती है। आकुलता समाप्त हो जाती है तथा अहङ्कार और ममकार की भावनाएँ जीव से अलग हो जाती हैं, विकार और वासनाएँ नष्ट होकर आत्मा [illegible] आती है।

वैराग्यनीति यात्म
विचार ता वगेदु नोडे राजिसुगुं शृ- ॥
गारकवि हसराज ।
पूरिसिद सपाद शतकरत्नाकरदोळ् ॥१२८॥

स्वयं विचार करके देखने से श्रृङ्गार हसराज कृत सपाद शतक रत्नाकर ग्रथ मे वैराग्य और नीति—आत्म-विचार झलकता है । ॥१२८॥

श्रीमद्देवेंद्रकीर्तियोगीश्वर पादाभोजभृगायमान शृगारकवि-
हस राजविरचितमप्परत्नाकरसपाद शतकं समाप्तम् ॥

श्रीमद्देवेन्द्र कीर्ति योगीश्वर के चरण कमल मे भ्रमर के सदृश रहनेवाले श्रृङ्गार कवि हंसराज विरचित "रत्नाकर सपाद शतक" ग्रथ समाप्त हुआ ।